



शिक्षा, इतिहास और विज्ञान में सांप्रदायिक घुसपैठ!

आम पाठकों का, अखबारों में राजनैतिक खबरें पहले ध्यान खींचती है। लोग रोज यह जानने के लिये अखबार के पन्ने खोलते हैं कि आज मोदी सरकार ने क्या किया? कौन-सी घोषणायें की? कौन से नये कदम उठाये। इन सारी बातों का सरोकार राजनैतिक घटनाक्रमों से या आर्थिक मुद्दों से ज्यादा होता है। परन्तु मात्र आठ-दस महीनों पुरानी ये सरकार शिक्षा के क्षेत्र में, इतिहास संस्कृति, विज्ञान और धर्म के क्षेत्र में जड़-मूल से बदलाव के लिये एक के बाद एक कदम उठा रही है इस ओर देशवासियों का ध्यान कम गया दिखता है। मेरे ख्याल से इतिहास पत्रकारिता और शैक्षणिक पत्रकारिता और साहित्यिक पत्रकारिता की कमी और जागरूक भूमिका के दायित्व के प्रति उदासीनता कारण हो सकती है और चिंता की बात यह भी है कि खुद आम आदमी (पाठक वर्ग) भी इन मुद्दों पर गम्भीर नहीं हैं। यद्यपि कुछ गिनी चुनी पत्रिकाओं ने इन मुद्दों को उठाया जरूर है।

अपनी बात की शुरुवात हम शिक्षा के क्षेत्र से करते हैं। शिक्षा में जड़ मूल से बदलाव करने की हवा बहने लगी है। एक कूट रणनीति के तहत यह शिक्षा में जूड़े पाठ्यक्रम, मूल्यों के बारे में स्वयं सरकारी स्तर पर अधिकृत बयान देने से मोदी सरकार बच रही है और यह काम एक सोची समझी रणनीति के तहत गैर सरकारी स्तर पर हिंदूत्ववादी संस्थायें कर रही हैं। मोदीजी ने 'स्किल्ड इंडिया' का नारा देकर 'कौशल्य पर आधारित शिक्षण देने को प्राथमिकता दी है। परन्तु जीवन मूल्याधिष्ठित शिक्षा, एवं भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत सांस्कृतिक मूल्य यथा स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व तथा लोकतंत्रीय एवं धर्मनिरपेक्ष जीवन पद्धति एवं मूलभूत अधिकारों इत्यादि के प्रकाश में शिक्षा को ध्यान में रखकर २१ वीं सदी की चुनौतियों को स्वीकार करने के प्रश्न पर एक खामोशी है। दूसरी तरफ भाजपा सरकार की मदर इंस्टिट्यूशन, जहाँ से बौद्धिक खाद्य, प्रेरणा व चिंतनधारा मिलती है, ने पहल की है। मजे की बात यह कि भागवतजी यह सच्चाई देते हैं कि हमारी शैक्षणिक दृष्टि 'स्वकरणीय' है जबकि यह खुली बात है कि, वर्तमान सरकार, देश और शक्ति एवं अधिकार के स्तम्भ अब उसी दिशा में भारत को ढालने का एजेंडा तैयार कर रहे हैं जिसकी नींव बरसों पहले गोलवलकरजी ने रख दी थी। नया शैक्षणिक चिंतन उसी दिशा में शुरू हुआ है।

सर संघ संचालक डॉ. मोहन भागवत ने ६० वर्षों दीर्घकालीन शैक्षणिक योजना के कुछ पन्ने खोले हैं। पूरी संकल्पना अभी सामने नहीं रखी गई है परन्तु यह एकदम स्पष्ट है कि शिक्षा के क्षेत्र में लोकतंत्रीय दृष्टि के समर्थक वे नहीं है ऐसा समझ में आता है।

लेकिन भारतीय संविधान ने सब लोगों के लिये शिक्षा के दरवाजे खोल दिये है यह मुद्दा संघ की नजरों में बाधा बन सकता है तो क्या संविधान के मौलिक स्वरूप में ही बदल होगा? यह समय बतायेगा। परन्तु एक बात तय है कि संघने गैर सरकारी स्तर पर एक बड़ी मुहिम शिक्षा में बदलाव के लिये चलाने के लिये कमर कसली है।

यह शैक्षणिक दृष्टि की प्रेरणा और मूल अतीत की वर्णाधारित जीवन पद्धति में लुपे है-यह आगे समय बतायेगा। जागरूक पाठकों को नजर रखना होगा।

एक दूसरी खबर, 'इतिहास लेखन के भारतीयकरण' की है। भारतीय इतिहास संशोधन परिषद (आय.सी.एच.आर.) के अध्यक्ष वाय. सुदर्शन राव ने पिछले १०० वर्षों से प्रकांड इतिहासकारों के इतिहास लेखन को उपनिवेशवादी और मार्क्सवादी इतिहास दर्शन बताकर उनके सत्यापन पर प्रश्न खड़ा किया है और पूरा इतिहास लेखन नये सिरे से लिखे जाने की आवश्यकता बताई है। भारत के इतिहास लेखनपर क्रिश्चियन धर्मशास्त्र का प्रभाव है-ऐसा राव का कहना है।

राव की दृष्टि में पुराण भी इतिहास हैं। मिथक नहीं है। और उनके सत्यापन के लिये, भौतिक आधार या पुरातत्वीय प्रमाणों को ढूँढना तथा वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाना उन्हें स्वीकार नहीं है।

तीसरा मुद्दा विज्ञान, मिथक और इतिहास को लेकर है। मुम्बई में इंडियन साइन्स कांग्रेस के १०२ वे अधिवेशन में 'प्राचीन भारतीय विज्ञान' विषय सोच समझकर रखा गया था। इस बिंदू पर कॅप्टन आनंद बोडस ने शोध निबंध पढ़ा। शीर्षक था प्राचीन भारतीयों को विमान-तंत्रज्ञान अवगत था। मजे की बात यह है कि इस तरह के दावे ऐतिहासिक प्रमाण दिये बिना बार-बार किये जाते हैं। क्या 'विज्ञान' भारत में स्वतंत्र ज्ञान शाखा थी? हमारा स्पष्ट विचार है कि इसवी पूर्व २ री सदी के बाद विज्ञान चिंतन स्वतंत्र नहीं रहा। प्रतिक्रांति के बाद संपूर्ण विज्ञान चिंतन एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था का अंग बन गया और वह व्यवस्था थी-वर्ण व्यवस्था। वर्णव्यवस्था पर धर्म का शिकंजा कसता गया और धर्म पर ब्राह्मणवाद का एकाधिकार हो गया। भारतीय चिंतन दृष्टि वस्तुवादी नहीं रही किन्तु विषयनिष्ठ हो गई; व्यक्ती-केंद्रित हो गई। और यह एक ऐतिहासिक दुर्घटना थी जिसके दुष्परिणाम आगे की सदियों में भोगना पड़ा। जरा विसंगतियों पर एक नजर डालें : हमारे महामहिम राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने बेंगलुरु में आयोजित राष्ट्रकुल विज्ञान परिषद के उद्घाटन के समय एक महत्वपूर्ण बात कही कि व्यक्ती, समाज और देश ने लिये गये निर्णय वैज्ञानिक संस्कृती और तर्क पर आधारित होना चाहिये। इस अवसर पर केंद्रिय विज्ञान और तंत्रज्ञान मंत्री डॉ. हर्षवर्धन, डॉ.सी.एन.राव, ब्रिटेन के राजपुत्र अंड्रयुज और कर्नाटक के मुख्यमंत्री विशेष रूप से उपस्थित थे।

माननीय राष्ट्रपति का यह उद्बोधनकारक भाषण और भारतीय इतिहास कांग्रेस के अध्यक्ष वाय.राव. का भाषण, इन दोनों में कोई साम्य नजर नहीं आता है। महामहिम पूरे देश से विज्ञान दृष्टि की अपेक्षा करते नजर आते हैं तो उधर इतिहासकार राव तर्क, विवेक, विज्ञान दृष्टि और भौतिक प्रमाणों की उपेक्षा करते नजर आते हैं।

अतीत और केवल अतीत से ही प्रेरणा लेनेवाली विचारधारा पर भविष्य का भारत गढ़ने की नीति, विज्ञाननिष्ठा शून्य, तर्कनिष्ठा शून्य, सद्सद्विवेकशून्य निर्णय और भारतीय संस्कृति के मौलिक तत्वों की उपेक्षा जो कि संविधान का गाभा है, इनकी अवहेलना करना एक खतरे की घंटी है!

क्या बहुजन समाज इस खतरे के प्रति सजग है?

सुंदरलाल टाकभौर

(सुंदरलाल टाकभौर)

सिंधु लिपि का प्रस्तुतिकरण विद्वज्जनसभा दि. १७/१०/२०१४

अहवाल

सन १९७१ में प्रारम्भ करके सिंधु लिपि का 'गुढार्थ' (Decipherment) सदारजी ने सन २००३ में ही प्राप्त करके उसे चार किताबों के माध्यम से पाठक के आगे रख दिये था। वे चार किताबें मराठी, अंग्रेजी, संयुक्त (अंग्रेजी+मराठी+हिंदी) और स्वतंत्र हिंदी इन भाषाओं में प्रकाशित हो चुकी है। यह सब कुछ स्वयं के खर्चों से और विषय की जटिलता के कारण बिकने की निश्चिती ना होने के हालातों में किया गया था।

संशोधन के दरमियान सदारजी ने इस क्षेत्र के अन्य संशोधकों के संशोधन को जाँचकर उसमें से जरूरी स्विकार कर उसका श्रेय भी सदारजी ने अपनी किताब में उनको दिया है। वे संशोधक हैं : (१) कै.प्र.रा.देशमुख, (वकील किन्तु संस्कृत पंडित एवं पुरातत्त्वविद्), यवतमाल, (२) मोतीरामजी छ. कंगाले, नागपुर, (३) श्री.के. गोळेगावकर, नागपुर और (४) डॉ.एस.आर.राव, सेवानिवृत्त सुपरिण्टेंडेंट आर्किऑलाजीस्ट बंगलोर।

इस अनुसन्धान को जनताभिमुख और पुनर्जिवित करने के लिए मूल वर्णमाला का प्रमाणीकरण करके एवं उसकी सहायता से सर जॉन मार्शल को हडप्पा, मोहेंजोदारो में प्राप्त मुद्राओं का सफल और अर्थपूर्ण वाचन करके उसके लघुलेख की भाषा मरहटी ई.स.पू. ४५०० की जनभाषा थी एवं वह सन १९४७ के ग्रामीण मराठी के समान थी यह घोषित किया। इसके अलावा यह लिपि २१ वे शतक के लेखन की माँग

-पु.श्री.सदार
७१, कोतवाल नगर
नागपूर-४४००२२
दि.१७/१०/२०१४



चित्र में : बायें से- पु.श्री.सदार (आयोजक), डॉ. आगलावे (अध्यक्ष), सुंदरलाल टाकभौर (परीक्षा समिति), सेवकराम राऊत (परीक्षा समिति)

पूरी कर सकती है यह साबित करने के लिए उस लिपि के व्यंजन को स्वर की मात्रा से जोड़कर (देवनागरी व ब्राह्मी समान) एक तालिका भी तैयार की है। ताकि कोई भी केवल उस तालिका के अवलोकन से एक पल में ही सिंधु लिपि का इस्तेमाल कर सके। मिसाल के तौरपर अॅड.वैशाली किर्ते, LL.M. सोलापुर, इन्होंने मुझसे फूलस्केप के तीन पन्नों पर किया हुआ पत्राचार उसका विषय में गंभीर समीक्षण था। श्रीमती प्रतिभा गणवीर, उपसंपादक, इतिहास संदेश ने उनके अपने बेटे से स्वयं को एक पत्र सिंधु लिपि में लिखवाकर वह इतिहास संदेश के सितंबर, अक्तुबर, नवम्बर, वर्ष २०१२ के अंक में प्रकाशित भी किया था।

इतना सब ३५ वर्ष के प्रदीर्घ अभ्यास से करने के

बावजूद भी महाराष्ट्र के एक विद्वान ने 'जानकार की राय में सिंधु लिपि अब तक नहीं पढ़ि गई' यह लेखी विधान सन २०१४ में करते है। आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के (पुरातत्व विभाग, केन्द्र सरकार) अधिकारी 'आप कुछ भी संशोधन करे, हम तभी मान्यता देंगे जब हम चाहेंगे और जिसको हम चाहेंगे' इस तरह के विधान करते है। असल में इन दोनों विधानों में ज्ञान के प्रति उदासीनता और सिंधु संस्कृति के बाबत षड्यंत्र की बू आ रही है। उसकी वजह यह है कि सिंधु लिपि की इन मुद्राओं को पढ़ने के बाद वे (१) इराक की प्राचीन सुमेर प्रदेश की मुद्रा समान होने से ई.स.पू. ४५०० के काल की होती है, (२) उन मुद्राओं की मरहटी भाषा और इराक की प्राचीनतम भाषा सुमेरी समान होने से भारतीय 'मरहटी' अथवा सुमेरिया की सुमेरी एक दुजे की जननी होती है और (३) मानव जाति का जन्म भारत में ढाई से तीन लाख सालों पहले होने से (देखे १९७३ का मानववंश शास्त्र परिषद का शिक्कंगो प्रस्ताव) भारतीय 'मरहटी ही' सुमेरी की व दुनिया की सम्पूर्ण भाषाओं की जननी सिद्ध होती है। इतना सब एक लिपि के वाचन से संभव हुआ। फिर भी तथाकथित भारतीय तज्ज्ञों की आँखें खूलती नहीं।

इसी वजह से सदरजी ने सीधे शिक्षित जनता और इस विषय से सम्बन्धित विद्यार्थियों के न्यायालय में जाकर इंसफ मांगने का तय किया। इसलिए हमारे दृष्टी में तो भारत के कुछ विद्वान और तज्ज्ञ उपेक्षणीय हो जाते है।

सदरजी के इस निर्णय को अंमल में लाते वक्त उन्होंने प्रथम दो दैनिक समाचार पत्रों में रु. १००,०००/- के इनाम का विज्ञापन दिया था। वे समाचार पत्र है: दैनिक सकाळ, २०/९/२००४, नागपुर, व दैनिक मूलनिवासी नायक, दि. २०/९/२००४, पूणे। उस विज्ञापन में पु.श्री.सदर की सिंधु

लिपि के सफलतापूर्ण संशोधन के दावे को चुनौती देनेवाले व्यक्ति अथवा संस्था उनका प्रतिदावा लिखित स्वरूप में श्री. सदर को प्रस्तुत करे व दि. १७/१०/२००४ को डॉ. अम्बेडकर विचारधारा विभाग, नागपुर यहाँ सम्पन्न होने वाली सभा में भी प्रतिदावा प्रस्तुत करें यह आवाहन किया था। किन्तु सदरजी की इस चुनौती को स्वीकार किसी ने भी नहीं किया। उसका विस्तृत वर्णन नीचे दिया है।

उपरोक्त चुनौती पत्र व सभा की निमंत्रण पत्रिका सम्बन्धित संस्था व व्यक्ति को रजिस्टर्ड पोस्ट के द्वारा भेजने पर नागपुर के अन्य विद्वान मंडली व पुरातत्व तथा इतिहास विषय के स्नातकोत्तर विद्यार्थियों को भी भेजे गए थे।

सभा के एवं परीक्षा समिति के अध्यक्षपद पर डॉ. प्रदिप आगलावे, (विभाग प्रमुख, डॉ. अम्बेडकर विचारधारा, नागपुर) विराजमान थे। परीक्षा समिति के अन्य सदस्य थे : सुंदरलालजी टाकभौर, संपादक, इतिहास संदेश और सेवकरामजी राऊत, पूर्व वृत्त निवेदक, आकाशवाणी, नागपुर सभा के प्रारंभ में ही डॉ. आगलावेजी ने परीक्षा समिति की ओर से सदरजी का सिंधु लिपि के संशोधन व उसे चुनौती देने के लिए प्रतीदावे जाँचने की दृष्टी से १४ कसोटियों को पढ़कर सुनाया। तद्पश्चात् अध्यक्ष महोदय ने सभागृह में सदरजी के दाँवे को चुनौती देने वाले या लेखी निवेदन करने वाली कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था उपस्थित हो तो अध्यक्ष से सम्पर्क करें यह घोषणा की। किन्तु कोई भी आगे नहीं आया। बाद में श्री. सदरजी ने उनका सिंधु लिपि बाबत दाँवा प्रस्तुत किया।

सदरजी ने अपने भाषण के आरंभ में ही पशुपती की प्रसिद्ध मुद्रा मोहेंजोदारो M17 के वाचन करके मुर्ती के सिर पर लिखित वर्ण सिंधुलिपि में 'रमामोस' अर्थात् रमामोह इस ध्वनी की है यह साबित करके दिखाया। आगे यह शब्द 'रमामोहन' हो गया। इन

वर्णों की पहचान करने के लिए प्रत्येक दर्शक को, जिन्हें किताब 'Marathi and Indus Script' दिया गया था उसके सम्बन्धित पृष्ठ का अवलोकन करने को कहा गया। उनमें से (१) वेंडेल का २१ लिपि का चार्ट, (२) सय्यद रामपुरी का नार्थ सेमीटिक लिपि का चार्ट और (३) ब्राह्मी लिपि का चार्ट देखने को कहा गया। वहीं से उपरोक्त वर्णमाला र, मा, मो, स और पूर्णविराम (.) के प्रतीक को जाँचने को कहा। उसी तरीके से उन्होंने दर्शक से लोथल का मेसोपोटमिया देश का सील (मुद्रा) का ध्वनी, 'अबूसारे' पढ़वाया। वही नाम आज अबू सालेम के स्वरूप में प्रचलित है। तदुपश्चात उन्होंने हडप्पा का H9 यह सील पढ़ने के लिए लिया उसका वाचन 'सात स' = सातशे (सात सौ) किस तरह सही है यह जाँचने के लिए कहा। इस प्रकार उपरोक्त अंग्रेजी किताब के पृष्ठ ५४ व ५५ पर दिये गये सम्पूर्ण स्वर व व्यंजन की दर्शक एक-एक करके जाँच पड़ताल कर सकेंगे इसका उन्होंने विश्वास दिलाया। बाद में सदारजी ने I, II, UF इन चिन्हों के सिंधु ध्वनी बताये। लिपि के प्रकार भी- लिनियर ए व लिनियर बी बताये।

सदारजी की उपरोक्त पद्धति से बहुसंख्य श्रोतागण संतुष्ट नजर आये। इसलिए जब अध्यक्ष महोदय ने जाहिरता से सभी श्रोताओं से पुछा की, उन्हें सदारजी का सिंधु लिपि का प्रस्तुतिकरण मंजूर है क्या? तब सभी ने चिल्लाकर 'हाँ' कहा। अन्य दो परीक्षकों का फैसला वही है ऐसा अध्यक्ष महोदय ने जाहिर किया। इसलिए किसी को भी १ लाख का इनाम देने का सवाल ही नहीं उठा।

अंत में परीक्षा समिति ने श्री सदारजी को उनके हस्ताक्षर का प्रमाण पत्र भी दिया। आभार प्रदर्शन के साथ सभा समाप्त हो गई।

इस सभा में श्री. सदार जी का भाषण चल रहा था उस वक्त स्थानिक अंग्रेजी दैनिक (विदर्भ व

मध्यप्रदेश में लोकप्रिय) 'हितवाद' के उपसंपादक अपने कैमेरा मैन के साथ एक घंटे तक बैठ कर ध्यानपूर्वक भाषण सुन रहे थे। इसलिए दि. १८/१०/२०१४ को उन्होंने इस कार्यक्रम सम्बन्धि अत्यंत प्रभावशाली खबर प्रसिद्ध की। यह खबर पूणे के दैनिक 'मूलनिवासी नायक' ने भी प्रसिद्ध की। अन्य स्थानिक समाचार पत्रों ने भी यह खबर प्रसिद्ध की है।

सातारा के प्रोफेसर डॉ. आ.ह.सालुंखे, शिवधर्म के सहप्रगटनकर्ता, इन्होंने उनकी ही रचित शिवधर्मगाथा की आखरी पृष्ठ पर सिंधू लिपि का वाचन अब तक नहीं हुआ है ऐसा कहा है। उसी प्रकार से, नागपुर के आर्किऑलॉजीकल सर्वे ऑफ इंडिया के अधिकारी भी मिडिया से यही बात बीच बीच में कहते रहते है।

इन दोनों को (डॉ.आ.ह.सालुंखे और एएसआय, केन्द्र की पुरातत्व संस्था) चुनौती देने के लिए सदारजी ने दि. २०/९/२०१४ को रु. एक लाख का इनाम जाहीर कर उनकी खोज को नकारने वालों को बहस करने का जाहीर निमंत्रण दिया था। किन्तु यह दोनों ही इस चुनौती को ढोने में असमर्थ निकले क्योंकि **उनका संशोधन जागतिक स्तर का है।** दुनिया के रथी महारथी लिपि तज्ज्ञों ने इस लिपि को पढ़ने की उम्मीद ही छोड दी थी। निरंतर ३५ साल के संशोधन की बराबरी साल दो साल कुछ संदर्भ जुटाकर उनपर आधारित रचना उसे संशोधन समझकर विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त करनेवाला संशोधन हरगिज नहीं कर सकता था। सिंधु लिपि के बाबत तो उपरोक्त दोनों ने यह कोशिश कभी की ही नहीं।

सिंधु लिपि के वाचन से राज्यकर्ता जमात का प्रतिनिधित्व करनेवाले एएसआय के अधिकारियों की समस्या सदारजी समझ सकते है। किन्तु डॉ.आ.ह.सालुंखे को इस तरह की कोई भी समस्या नहीं थी। फिर भी उन्होंने 'शिवधर्म गाथा' नाम के धार्मिक ग्रंथ में 'असत्य' को स्थान दिया इसका श्री.

सदारजी को दुःख है। शिवधर्म गाथा के पृष्ठ ६० पर डॉ. सालुंखे कहते हैं, “मानवी जीवन में जो जो उत्तम, उदात्त, निकोप, न्यायसंगत है तथा इन्सानियत और मानव की सम्पूर्ण अंतःशक्ति विधायक मार्ग से खिलते हुये जो कुछ भी होता है वह सब ‘शिव’ इस संकल्पना में अंतर्भूत होता है।” उनके इसी उद्गार का श्री. सदारजी को न्याय देते हुये डॉ. सालुंखे को विस्मरण हुआ ऐसा दिखाई देता है। उनकी इस एक ही कृती से ‘शिवधर्म’ की शोहरत थोड़ीसी कम होती है। वह पूर्ववत प्राप्त करने के लिए सदारजी ने उन्हें २१/१०/२०१४ को पत्रद्वारा सुचित किया था। किन्तु वह उन्हें पसंद नहीं आया यह उनके फोनद्वारा भाषण से सिद्ध होता है। डॉ. सालुंखे ने आवेश में आकर यह भी कहा की, शिवधर्म गाथा के सिंधु लिपि सम्बन्धि विधान को वह जिम्मेदार नहीं है बल्कि शिवधर्म संसद जिम्मेदार है क्योंकि वे उस ग्रंथ के प्रकाशक है। किन्तु ग्रंथ की प्रस्तावना में पान १४ पर वह संसद कहती है की, “शिवधर्मगाथा यदि हमारे सामुहिक विवेक से

निर्माण हुई है फिर भी उसकी निर्मिती का श्रेय प्रमुखता से डॉ.आ.ह.सालुंखे का ही है।” अंत में इस कदर दबाव में आने के बाद उन्होंने कहा था की, “सिंधु लिपि पढ़ी नहीं गई यह मेरी स्वयं की राय है और इस राय की उनको स्वतंत्रता है।” यह सदारजी को मंजूर है किन्तु आपका पिंड व प्रसिद्धी संशोधक की है। संशोधक को प्रमाण के बगैर ‘मत’ देने का अधिकार नहीं है। इस अधिकार का दावा केवल सामान्य लोग ही कर सकते हैं।

यहाँ जाहीर करना सही होगा की, बामसेफ, राष्ट्रीय मूलनिवासी संघ, भारत मुक्ती मोर्चा और डॉक्टर, इंजिनियर्स व प्रोफेसर्स संघटना ‘दीप फोरम’, इन्होंने नागपुर एकत्रित होकर दि. २३/१०/२०१२ को सदारजी का दीक्षाभूमि के नजदीक, आय.टी.आय. मैदान में २० हजार बौद्धों समक्ष सत्कार किया था। उसी तरह प्रस्तुत दि. १७/१०/२०१४ के कार्यक्रम के अंत में ‘रोटरी’ क्लब, नागपुर ने भी स्मृति चिन्ह देकर सिंधु लिपि के सफल वाचन के बाबत सत्कार किया है।

(अनुवाद : प्रतिभा)

सुदर्शन समाज की परिकल्पना का ऐतिहासिक परिदृश्य

सुदर्शन समाज का इतिहास

—संजीव खुदशाह

मूलतः बघुलखण्ड और बुंदेलखण्ड (आज मप्र और उप्र के कुछ हिस्से) में निवास करने वाली डोमार जाति जो भंगी व्यवसाय में जुड़ी हुई है, ने अचानक १९४१ के आस पास अपने आपको सुदर्शन नाम के पौराणिक ऋषि से जोड़ लिया। वे अपनी जाति की पहचान सुदर्शन समाज के रूप में बताने लगे। वे ऐसा क्यों करने लगे? क्या कारण थे? इसका जवाब बताने से पहले अन्य भंगी व्यवसाय से जुड़ी वाल्मीकि समाज के बारे में जानना जरूरी है।

१९२० से १९३० ईसवी के आस पास की बात है जब डॉ. अम्बेडकर दलितों के उद्धारक के रूप में उभरते जा रहे थे। वे दलितों को उत्पीडन से बचने के लिए गांव से शहर में आकर बसने की सलाह दे रहे थे साथ ही अपने पुरतैनी व्यवसाय को छोड़ने की अपील कर रहे थे। इस समय देश के लाखों दलित अपने घृणित व्यवसाय को छोड़कर शहर में अन्य व्यवसाय की तलाश कर रहे थे। इसी दौरान पंजाब की चूहडा जाति (पखाना सफाई में लिस थी) के लोग जो बालाशाह और लालबेग की तलाश कर रहे थे, इनमें बड़ी मात्रा में ईसाई धर्म की ओर झुकाव होने लगा और जो लोग ईसाई धर्म को ग्रहण कर लेते वे गंदे काम को करना बंद कर देते। इसी समय पंजाब के लाहौर और जालंधर इत्यादि बड़े शहरों में आर्य समाज और कांग्रेसियों का प्रभाव था उन्होंने गौर किया कि यदि ऐसा ही धर्म परिवर्तन चलता रहा तो पखाने साफ करने वाला कोई भी नहीं रहेगा। इन्हें हिन्दू बनाये रखने के लिए हिन्दुओं ने प्रचार शुरु किया कि तुम हिन्दू हो। बाला शाह बबरीक आदि को वाल्मीकि बनाया गया। उन्हे गोमांस न खाने को राजी किया गया। ऐडवोकेट भगवान दास अपनी किताब बाबा

साहब भीमराव अम्बेडकर और भंगी जातियां में लिखते है “बाला शाह बबरीक आदि को वाल्मीकि बनाया गया। उन्हे गोमांस न खाने को राजी किया गया। अपने खर्चे लाल बेग के बौद्ध स्तूपों की तरह ढाई ईट से बने थानों की जगह मंदिर बनाये जाने लगे। कुर्सीनामों की जगह रामायण का पाठ और होशियारपुर के एक ब्राह्मण द्वारा श्री अमीचन्द्र शर्मा ने एक पुस्तक ‘वाल्मीकि प्रकाश’ के नाम से छपवाई जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि भंगी चुहडा वाल्मीकि का वंशज नहीं, अनुयायी है। उधर गांधी जी ने भी इस नये नाम की सराहना की और अपना आशर्वाद दिया।”

गौरतलब है कि सन् १९३१ में जाति नाम वाल्मीकि को सरकारी स्वीकृति मिल गयी। पंजाब हरियाणा के बाहर अन्य भंगी जातियां इससे प्रभावित नहीं हुईं। किंतु इन जातियों के लोग भी इसाई और मुस्लिम धर्म की ओर बढ रहे थे एवं तरक्की कर रहे थे। जो व्यक्ति ईसाई या मुस्लिम धर्म में चला जाता वह गंदे पेशे को छोड देता। हिन्दु वादियों ने इन्हें भी एक-एक संत थोप दिया, और उस संत को उनका कुल गुरु बताया गया। (अतीत में सभी जातियों के गोत्र नाम इसी तरह बाँटे गए थे। -संपादक) उनके बीच धार्मिक किताबे मुफ्त में बांटी गईं, उन्हे कहा गया की तुम्हारे कुल के देवी देवता मरही माई, देसाई दाई, ज्वाला माई, कालका माई कोई और नहीं दुर्गा के ही अन्य नाम है, इस तरह इन गैर हिन्दु जातियों को हिन्दु धर्म के बिना दीक्षा के मिला दिया गया। कुछ जातियां स्वयं धार्मिक किताबों में अपने संतों की खोज करने लगे। इसके तीन कारण थे।

१. लालबेगियों के द्वारा वाल्मीकि जयंती मनाने और सभा करने की प्रक्रिया को संगठित होना समझते

थे। इस प्रकार वे भी संगठित होना चाहते थे।
२. सरकार के द्वारा किसी प्रकार के फायदे मिलने की लालसा थी।

३. गंदे जाति नाम से छुटकारा पाने की मजबूरी थी।

अब प्रश्न ये उठता है कि लालबेगियों की तरह उनकी भी जरूरतें समान थी इसके बावजूद वे वाल्मीकि नाम से क्यों नहीं जुड़े। इसके भी तीन कारण हैं।

१. वे अपने आपको वाल्मीकि से अलग मानते थे

२. वाल्मीकि नाम से जुड़कर वे अपने जाति अस्तित्व को समाप्त नहीं करना चाहते थे।

३. वाल्मीकि के एकाधिकार के कारण वे अपने हितों को लेकर असुरक्षित थे।

इस प्रकार बाकी भंगी जातियां अपने अपने गुरुओं की तलाश करने लगीं। इस कार्य में हिन्दुवादियों ने अपना सहयोग दिया। धानुक जाति ने अपने आपको धानुक ऋषि से, डोम ने देवक ऋषि से, मातंग ने मातंग ऋषि से और डोमरों ने सुदर्शन ऋषि से अपने आपको जोड़ा। चूँकि चर्चा का विषय सुदर्शन समाज है इसलिए मैं इस पर विस्तार से चर्चा करूंगा।

सुदर्शन समाज की शुरुआत १९४१ के बाद हुई ऐसी जानकारी मिलती है। रामसिंग खरे, जो डोमार जाति के थे, ने सर्वप्रथम सुदर्शन सेवा समाज की स्थापना पश्चिम बंगाल में खडगपुर में की। रामसिंग खरे के सहयोगी थे भीमसेन मंझारे, लालुदयाल कन्हैया, रामलाल शुक्ला, पन्न लाल व्यास। यहां सुदर्शन सेवा समाज की ओर से एक स्कूल भी चलाया जा रहा था। बाद में मध्यप्रदेश के बिलासपुर (अब छत्तीसगढ़) में करबला नामक स्थान में एक सुदर्शन आश्रम की स्थापना उन्होंने ने की। आज यहां पर एक बड़ा सुदर्शन समाज भवन नगर निगम की मदद से बनवाया गया है। इस बीच सुदर्शन समाज का सम्मेलन कानपुर, खडगपुर, नागपुर, जबलपुर एवं बिलासपुर में आयोजित किया गया। रामसिंग खरे मूलतः हमीरपुर बांदा के रहने वाले थे। वे खडगपुर में निवास करते थे लेकिन पूरे जीवन

भर सुदर्शन ऋषि के नाम पर समाज को जोड़ने के लिए पूरे देश में दौरा किया करते थे। इसके पहले डोमार जाति सुदर्शन या सुपच ऋषि से परिचित नहीं थी।

ऐसी जानकारी मिलती है की रामसिंग खरे बंगाल नागपुर रेलवे में सफाई कर्मचारी के पद पर कार्यरत थे, बाद में वे हेल्थ इंस्पेक्टर होकर सेवानिवृत्त हुये। उन्होंने रेल सफाई कर्मचारियों की समस्याओं को लेकर कई कार्य किये। रेल सफाई कर्मचारियों के पदोन्नती का श्रेय उन्ही के प्रयास को जाता है। पन्नलाल के पुत्र राजकिशोर व्यास बताते हैं कि १९४० से पहले वे अपने सहयोगियों के साथ दिल्ली में गांधीजी से मिले थे। गांधी ने उनके सुदर्शन ऋषि के कान्सेप्ट को आशिर्वाद दिया था ऐसा अंदाजा लगाया जाता है। लेकिन सर्वप्रथम सुदर्शन ऋषि या सुपच ऋषि के बारे में उन्हें कोन बताता ये कह पाना कठीन है।

स्वपच क्या है? स्वपच का तत्सम श्वपच है। जिसका अर्थ कुत्ते का मांस खाने वाले लोग।

श्वान+पच=कुत्ते का मांस खाने वाले।^१

किन्ही अन्य संदर्भ में चांडाल को भी श्वपच कहा जाता है। यानि जिस किसी ने भी रामसिंग खरे को सुपच या सुदर्शन ऋषि का कान्सेप्ट दिया था वो बड़ा ही धूर्त आदमी रहा होगा। क्योंकि स्व. रामसिंग खरे और उनके साथी ज्यादा पढ़े लिखे नहीं थे। यदि उन्हे ये जानकारी होती की सुपच का अर्थ कुत्ते का मांस खाने वाला है तो वे किसी भी हाल में सुदर्शन ऋषि को नहीं अपनाते।

सुदर्शन ऋषि की उत्पत्ति:- यहां यह बताना जरूरी है सुदर्शन ऋषि के परोकार महाभारत के एक प्रसंग से सुदर्शन ऋषि से जोड़ते हैं। जिसकी कथा कबीर मंसूर में मिलती है कि महाभारत युद्ध के बाद युधिष्ठिर को अत्यंत पश्चाताप हुआ कि उन्होंने अपने ही रिश्तेदारों की हत्या कर यह राजपाट पाया है जिसके कारण उन्हें नरक भोगना पडेगा। श्रीकृष्ण ने उन्हे इस

संकट से मुक्ति के लिए यज्ञ करने की सलाह दी, जिसमें सभी साधु-संतों को भोजन कराए जाने का निर्देश दिया और कहा कि जब आकाश में घंटा सात बार बजेगा तभी यज्ञ पूरा हुआ माना जाएगा अन्यथा नहीं। इस प्रकार सभी सन्तों को बुलाकर भोजन कराया गया, किन्तु कोई घंटा नहीं बजा। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण के कहने पर सुदर्शन ऋषि को बड़ी मित्रत करके बुलाया गया एवं भोजन कराया गया। इसके बाद आकाशीय घंटा बजता है।^१ इसी प्रकार का विवरण सुख सागर नामक ग्रन्थ में भी मिलता है। गौरतलब है इस कथा में सुदर्शन को नीच जाति का बतलाया गया।

क्या महाभारत में सुदर्शन ऋषि का विवरण मिलता है? यह एक आश्चर्य है की जिस कथा को कबीर मंसूर या सुखसागर में महाभारत से जोड़कर बताया गया है वह मूल महाभारत में है ही नहीं। इस कारण सुदर्शन का महाभारत से कोई संबंध साबित नहीं होता है।

इतिहास में क्या कहीं सुदर्शन ऋषि का विवरण मिलता है? नागपुर विश्वविद्यालय के पाली भाषा के अध्यक्ष डॉ. विमल किर्ती बताते हैं कि बौद्ध काल में सुदर्शन नाम के एक बौद्ध भिक्षु का जिक्र मिलता है। वे आगे कहते हैं चूँकि सारे दलित पूर्व में बौद्ध ही थे इसलिए ऐसा हो सकता है सुदर्शन ऋषि कोई और नहीं वरन् बौद्ध भिक्षु ही रहे होंगे।

कौन-कौन सी जातियां सुदर्शन समाज से जुडी है? डोमार के वे लोग जो सुदर्शन के समर्थक हैं, ये दावा करते हैं कि डोम-डुमार, हेला, मखिया, धनकर, बसोर, धानुक, नगाडची आदि सभी सुदर्शन को मानते हैं। लेकिन ये एक झूठ है, सच्चाई ये है कि केवल डोमार (डुमार) या अन्य जाति के वे परिवार जिन्होंने इनसे वैवाहिक संबंध बनाये हैं सुदर्शन को मानते हैं। यहां ये भी बताना जरूरी है की ऐसे लोग जो पढ़ लिख गये और सुदर्शन की सच्चाई से वाकिफ हो गये वे

सुदर्शन को मानना बंद कर दिये। क्योंकि सुदर्शन आज डुमार समाज की गुलामी का प्रतीक है। यह एक ऐसा थोपा हुआ कलंक है जिसने इस जाति को हिन्दू धर्म का गुलाम बनाकर दलित आंदोलन से दूर कर दिया। इस कलंक को जितना जल्दी ही मिटा दिया जाय उतना अच्छा है।

सुदर्शन ऋषि से जुड़ने के कारण होने वाली हानि:

अम्बेडकर के दलित आंदोलन से दूरी- पूरे देश में दलित आंदोलन चला जो ब्राह्मणवाद के विरोध में खड़ा हुआ। जिसमें जाटव, चमार, महार, रविदास आदि जाति शामिल हुईं और तरक्की कर गईं। जो दलित जातियां गुरु, ऋषि के चक्कर में रही वे पिछडती गईं। सामंतवादी, ब्राह्मणवादी ताकतें ये चाहती हैं की वे अम्बेडकर से दूर रहे और गंदे पेशे कोना छोड़े ताकि उनके सुख में कोई खलल न हो।

अपने गौरवशाली इतिहास को भूला दिया गया- अम्बेडकरवाद जाहं एक ओर अपने इतिहास को जानने के लिए प्रेरित करता है। आपने उद्धारक और शोषण कर्ता के बीच फर्क करना सिखाता है। वहीं सुदर्शन जैसे गुरुओं के साथ आने के कारण ये इतिहास ब्राह्मणवादी आडंबरो अंधविश्वासों में खो गया। अपने गौरवशाली इतिहास को अपने हाथों मिटा दिया।

अपनी मूलनिवासी श्रमण संस्कृति को मिटाया जा रहा है- दलितों की महिला प्रधान, गैरब्राह्मणी, श्रमण संस्कृति को मिटाया गया। डोमार समाज में कभी किसी अवसर या संस्कार में ब्राह्मण को नहीं बुलाया जाता था। क्योंकि इनकी अपनी अवैदिक संस्कृति थी। इनकी अपनी पूजा की शैली, भजन गायन पद्धति थी, छिटकी बुदकी थी जिसे सुदर्शन के नाम पर हिन्दुकरण होने के कारण आज पूरी तरह मिटा दिया गया।

केवल हिन्दू जजमान बनकर रह गये- आज डोमार लोग केवल हिन्दू समाज के जजमान बन कर रह गये। वे अनुसूचित जाति में आते हैं और डॉ.

अम्बेडकर के प्रयास से दलित होने का लाभ जैसे- आरक्षण, छात्रवृत्ति, नौकरी, व्यवसाय, ऐट्रोसिटी, सबसीडी का फायदा तो जमकर उठाते हैं। लेकिन जब चढ़ावा देने की बारी आती है तो वे वैष्णो देवी या किसी गुरु के द्वार जाते हैं। डॉ. अम्बेडकर को मानने में आज भी संकोच करते हैं।

पुश्तैनी भंगी व्यवसाय से छुटकारा नहीं मिल पाया- भारत की लगभग दलित जातियां जो अम्बेडकर आंदोलन से जुड़ी उन्होंने संघर्ष करके पुश्तैनी गंदे पेशे से छुटकारा पा लिया। लेकिन जो जातियां हिन्दू धर्म की गुरु या ऋषि की ओर गईं वे गंदे पेशे में सुधार तो चाहती हैं लेकिन छोड़ना नहीं चाहती। डोमार जाति के नेता सफाई में सुविधा, पैसा की मांग तो करते हैं लेकिन पेशे को छोड़ने की मांग नहीं करते।

गुमराह करने वाले सामाजिक नेता कुकुरमुत्ते की तरह पैदा हो गये- चूँकि अम्बेडकर आन्दोलन सच्चे और झूठ में फर्क करना सिखाता है इसलिए आप अपने मार्ग दर्शक खुद बन जाते हैं। और आपको किसी नेता की जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन सुदर्शन समाज में ऐसे नेताओं की कमी नहीं है जो आपको सुदर्शन के नाम पर गुमराह करने में कोई कसर नहीं रखेंगे। वे चाहेंगे आप अपने गंदे पेशे को करते रहे

और सुदर्शन का भजन गाते रहे ताकि उनकी राजनीतिक रोटियाँ सिकती रहे।

डॉ. अम्बेडकर की ओर एक कदम- पहले इस समाज के लोग सुदर्शन के साथ अम्बेडकर का फोटो लगाते थे। लेकिन अब वे सुदर्शन के फोटो को हटा रहे हैं। दलित मुव्हमेन्ट एसोसियेशन रायपुर, अम्बेडकर विकास समिति जबलपुर, सामाजिक विकास केन्द्र नागपुर इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। डुमार समाज के सबसे बड़े मार्ग दर्शक थे नागपुर के स्व. राम रतन जानोरकर जो आरपीआई से नागपुर के महापौर बने थे। वे डॉ. अम्बेडकर से बहुत करीब से जुड़े थे। उन्हें महाराष्ट्र सरकार की ओर से दलित मित्र की उपाधि से नवाजा था। वे डॉ. अम्बेडकर के बौद्ध दीक्षा कार्यक्रम के संयोजक थे और उन्होंने उनसे बौद्ध धम्म की दीक्षा ली थी। डोमार समाज सहीत अन्य दलित समुदाय भी उनके मार्ग पर चलने को तत्पर हैं। राम रतन जानोरकर इस समाज के सच्च मार्गदर्शक हैं। इस प्रकार और भी लेखक चिंतक सामाजिक कार्यकर्ता हैं जो अम्बेडकर आन्दोलन से इन्हें जोड़ने की कोशिश कर रहे हैं।

संदर्भ:

(१) पृष्ठ क्र. ६६, ११८ सफाई कामगार समुदाय, लेखक संजीव खुदशाह, प्रकाशक राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली।

दलित साहित्य का नामकरण : अम्बेडकरवादी साहित्य

-डॉ. यशवंत मनोहर

अम्बेडकरी जीवन-एहसास का अविष्कार करनेवाले साहित्यकार के साहित्य को ही आगे अम्बेडकरी साहित्य कहे यह नम्र निवेदन हम कर रहे हैं। कल तक अम्बेडकर समाज के लेखकों के साहित्य को दलित साहित्य कहा जाता था। किन्तु अब दलित साहित्य ने नामांतरण किया है इस बात पर ध्यान देकर इस नामांतरित साहित्य को **‘अम्बेडकरवादी साहित्य’** इसी नाम से जाना जाये ऐसा लगता है।

‘दलित’ शब्द कहाँ से आया?

‘साहित्य’ शब्द को जोड़कर ‘दलित’ शब्द का प्रयोग १९५० में हुआ होगा। ‘दलित साहित्य’ इस जोड़शब्द का प्रयोग प्रथम यहीं हुआ होगा। अगले विधान से यह स्पष्ट होता है। राजा ढाले के भाषण के अनुसार ‘दलित साहित्य’ यह शब्द यदि किसी काल व घटना से संबंधित है तो...

“वह है १९४८ में अस्तित्व में आये बाबासाहब के लोकशिक्षण प्रसारक मंडल से। उस प्रकाशन मंडल का मूर्तरूप अर्थात् दलित सेवक साहित्य संघ और आगे चलकर वह दलित साहित्य संघ में परिवर्तित हुआ।”

१९४८ के वक्त दलित सेवक साहित्य संघ का निर्माण हुआ होगा। वह मुम्बई तक ही सीमित होगा। पूना कार्यक्षेत्र में वृद्धि होने लगी, वैसे ही दलित सेवक साहित्य संघ को “१९ जुलाई १९५३ से महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ” यह नाम प्राप्त हुआ होगा। उपरोक्त अवतरण में दिए कालक्रम से थोड़ा निराला कालक्रम भाऊसाहब टी.पी.अडसूल ने दिया है वह इस प्रकार-

१९५० में डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर के आन्दोलन के साहित्यिक ने ‘महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ’ नाम से स्वतंत्र साहित्य संस्था स्थापन की। इस तरह का विधान अडसूलजी ने पृ. ६ पर इसी प्रस्तावना में

किया है। वह इस प्रकार “१९५० में महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ नाम की संस्था स्थापन हो गई।”

राजा ढाले महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ के जन्म का वर्ष १९५३ देते हैं तो भाऊसाहब अडसूल १९५० में महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ का जन्म होने का कहते हैं।

किन्तु दलित सेवक साहित्य संघ और महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ इन दोनों संस्थाओं में दलित साहित्य शब्द है यह तो बिल्कुल स्पष्ट है। तब १९५० से दलित शब्द को साहित्य शब्द के साथ बाँधा जाने लगा ऐसा कहा गया तो गलत नहीं होगा। यहाँ दलित साहित्य शब्द का इस्तेमाल कब से हो रहा है यही देखना है और १९५० से इस शब्द का इस्तेमाल किया जा रहा है यही उपरोक्त विवेचन से समझ में आता है।

१. १९५० से ‘दलित साहित्य’ शब्द का इस्तेमाल होने लगा।
२. १२-९-५३ के जनता साप्ताहिक में आ.श्री.रणपिसे का ‘दलित साहित्याचे समालोचन’ मराठी आलेख प्रकाशित हुआ था।
३. २८ फरवरी १९५५ की आवृत्ति में आ.श्री.रणपिसे का ‘दलित साहित्याची अनास्था’ (मराठी) यह आलेख जयभिम साप्ताहिक में प्रकाशित हुआ था।
४. ‘मराठी वाङ्मय व अम्बेडकरी सम्प्रदाय’ आलेख जनता के अम्बेडकर जयन्ति विशेषांक १९५५ में प्रकाशित हुआ।
५. जिस पहले दलित साहित्य सम्मेलन को डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर मुख्य अतिथि के रूप में आगमन वाले थे वह महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ का पहला दलित साहित्य सम्मेलन १६ दिसम्बर १९५६ को निश्चित किया गया था।

६. १ मार्च १९५८ में प्रबुद्ध भारत साप्ताहिक का दलित साहित्य सम्मेलन विशेषांक प्रकाशित हुआ था। उसमें 'दलित समाज आणि मराठी कादंबरी', 'दलितांची वर्तमानपत्रे', 'दलितांचे काव्यवाङ्मय,' 'मराठी रंगभूमीवरील दलितवर्गीयांचा वारसा' आदी मराठी आलेख है।
८. महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ ने तीन साहित्य सम्मेलन का आयोजन किया। पहला मुम्बई में, २ मार्च १९५८, दुसरा -२२ नवम्बर १९५९ मुम्बई में ही, और तिसरा ११ मार्च १९६१ पूना में सम्पन्न हुआ। अध्यक्ष, क्रमसे, बी.सी.काम्बले, बॉरि. बी.डी.काम्बले और वि.रा.रणपिसे थे। पहले सम्मेलन के उद्घाटक शाहीर अण्णाभाऊ साठे थे, दुसरे सम्मेलन के उद्घाटक नामदेव व्हटकर एवं पूना के तीसरे सम्मेलन के उद्घाटक मा.सो.काम्बले थे।
९. पूना के ११ मार्च १९६१ सम्मेलन में प्रस्ताव पारित करके महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ का विसर्जन किया गया। उसके ऐवज में 'महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य परिषद' स्थापन की गई। इस परिषद ने १९६२ से १९७६ तक ११ सम्मेलनों का आयोजन किया।
१०. १९७६ में नागपुर में पहला दलित साहित्य सम्मेलन आयोजित हुआ। उसमें दलित साहित्य संसद की स्थापना की गई थी। डॉ. म.ना.वानखडे इस साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष थे। वहीं से आगे दलित साहित्य संसद ने कल्याण के साहित्य सम्मेलन तक कुल १० अखिल भारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन का आयोजन किया। फ़िलहाल दलित साहित्य संसद विसर्जित करके अम्बेडकरवादी साहित्य संसद उभारने की कोशिश जारी है।
- 'अस्पृश्य' और 'दलित' : पूर्वास्पृश्य को ही दलित कहा गया यह जाहिर है। किन्तु दलित शब्द से पूर्वास्पृश्य को कबसे संबोधित किया जाने लगा यह सवाल है। निम्नलिखित घटनाएँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है।
१. संतवाङ्मय में 'अंत्यज' शब्द का प्रयोग अस्पृश्य को संबोधित करके इस्तेमाल किया गया है।
 २. जोतीबा फुले ने विशेषकर अस्पृश्य को अतिशूद्र शब्द से संबोधित किया।
 ३. अस्पृश्यता निवारण के लिए विद्वल रामजी शिंदे ने 'डिप्रेस्ड क्लासेस मिशन' १९०६ में स्थापन किया था। उसमें 'डिप्रेस्ड' शब्द अस्पृश्य के लिए ही इस्तेमाल किया गया था यह दिखाई देता है।
 ४. १९२४ में अस्पृश्य के लिए 'बहिष्कृत' शब्द का इस्तेमाल किया गया था, यह बात बहिष्कृत हितकारिणी सभा की स्थापना से समझ में आती है।
 ५. गांधी ने अस्पृश्य को संबोधित करके 'हरिजन' शब्द का इस्तेमाल किया है।
 ६. १९३५ में ब्रिटिश संसद ने भारतीय शासन विषयक कानून बनाया। उसमें अस्पृश्य को संबोधित करके 'अनुसूचित जाति' इस शब्द का प्रयोग पहली मर्तबा किया था।
 ७. उसके पहले इस अनुसूचित जाति को पददलित या मागासवर्गिय कहा जाता था।
 ८. अस्पृश्य जाति को भारतीय संविधान ने धारा ३४१ के तहत 'अनुसूचित जाति' से घोषित किया।
 ९. धनंजय कीर के अनुसार बाबासाहब ने दलित शब्द का इस्तेमाल १९२८ में किया था। उन्होंने सायमन कमिशन के निमित्त से सर हरिसिंग गौर और डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर का मूल अंग्रेजी संवाद का अनुवाद निम्नलिखित किया है-
“सर हरिसिंग गौर : डॉ. अम्बेडकर, दलितवर्ग और अस्पृश्यवर्ग यह दोनों शब्द प्रयोग समानार्थी होता है

क्या?

डॉ. अम्बेडकर : हाँ!^५”

यह संवाद महाराष्ट्र शासन द्वारा प्रकाशित डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर रायटिंग अँड स्पिचेस के दुसरे खण्ड में इस तरह है---

“Sir Hari Singh Gour : Dr. Ambedkar, would you regard ‘Depressed classes’ and ‘Untouchables’ as synonymous terms?

Dr. Ambedkar : Yes⁶”

यह २३ अक्तुबर १९२८ की घटना है।
१०. और एक स्थान पर अस्पृश्य को संबोधित कौन कौन से शब्दों का इस्तेमाल होता था यह बाबासाहब ने बताया है, उन्होंने कहा...

“The Reader will find that I have used quite promiscuously in the course of this book a variety of nomenclature such as Depressed Classes, Scheduled Castes, Harijans and servile classes to designate the untouchables. I am aware that this is confusion especially for those who are not familiar with conditions in India. Nothing could have pleased me better than to have used one uniform nomenclature. The fault is not altogether mine. All those names have been used officially and unofficially at one time or other for untouchables. The term under the Government of India act is ‘Scheduled Castes.’ But that came into use after 1935, before that they were, called ‘Harijans’ by Mr. Gandhi and ‘De-

pressed Classes’ by Government in the flowing situation like that it is not possible to fix upon one name, which may be correct designation at one stage and incorrect at another. The reader will overcome all difficulties if he will remember that these terms are synonymys and represent the same class.”

सायमन कमिशन को दिये गये बयान में बाबासाहब ने डिप्रेसड और अनटचेबल शब्दप्रयोग हम एक ही अर्थ से इस्तेमाल करते हैं, कहा है, यह सच होने के बावजूद भी डिप्रेसड शब्द का ‘दलित’ अनुवाद कीर ने ही किया यह भी स्पष्ट है। भारतीय समाज विज्ञान कोश के अनुसार १९३५ के पूर्व अस्पृश्य को पददलित शब्द लगाया जाता था यह मान लिया और डिप्रेसड शब्द लगाया जाता था यह मान्य किया तथापि डिप्रेसड शब्द का इस्तेमाल बाबासाहब ने दलित अर्थ से किया होगा तो डिप्रेसड शब्द १९०६ में ही वि.रा.शिंदे ने किया था। वह उन्होंने पददलित इस शब्द के लिए ही इस्तेमाल किया तो दलित शब्द की बुनियाद वहाँ तक हमें दिखाई देती है।

खैर, १९५६ में बाबासाहब ने धम्म स्वीकार किया था। तदनंतर क्रमसे अम्बेडकरी समाज की अनुभूति अधिक से अधिक तीव्र होने लगी। १९४८-१९५० से दलित साहित्य का शब्दप्रयोग उस वक्त के लोगों ने किया था। आगे उन्होंने ६१ में उस शब्दप्रयोग का विसर्जन किया। अगले काल से दलित को मार्क्सवादी भी कहा गया। किन्तु यह कहना सम्मत नहीं है। दलित शब्द को बदतर कहनेवाले अलग और दलित इस शब्द से जाने जानेवाले साहित्य मार्क्सवादी है यह कहने वाले अलग है। १९५३ में आ.श्री.रणपिसे के ‘दलित साहित्य के समालोचन’ इस आलेख में दलित साहित्य की प्रेरणा डॉ.बाबासाहब अम्बेडकर

ही किस तरह है बताया गया है। फिर अगले काल में भी दलित साहित्य इस नाम से जन्मे साहित्य के पीछे की प्रेरणा बाबासाहब ही है यह बात ध्यान में लेना जरूरी है। कुछ मंडली इस काल में दलित साहित्य को मार्क्स की प्रेरणा से जोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। इसलिए १९७६ में राजा ढाले ने अम्बेडकरी प्रेरणा के साहित्य का आग्रह किया था। अम्बेडकरवादी साहित्य इस तरह का शब्द प्रयोग भी उन्होंने १४ वे बौद्ध साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में सरेआम किया था।

मध्यंतर काल में अम्बेडकर समाज के साहित्य को किस नाम से जाना जाय इस संदर्भ में कई बार बहस हो चुका है। उनमें से कुछ बेहद तीखे थे। एक विकल्प टी.पी.अडसूल और विजय सोनवणे ने सुझाया वह-

- (१) बौद्ध साहित्य का,
- (२) अम्बेडकरी प्रेरणा अथवा अम्बेडकरवादी साहित्य यह राजा ढाले ने कहा,
- (३) तो कुछ ने दलित साहित्य शब्द जारी रखा।

इस बहस में दलित साहित्य शब्द के साथ उस नाम से निर्मित हुये अम्बेडकरवादी साहित्य भी टिप्पणी का मसला बन गया था। दलित शब्द का इस्तेमाल ना करे यह ठीक ही था, किन्तु उस शब्द के नाम से साहित्य निर्मिती हो रही थी वह अम्बेडकरवादी ही थी। इस साहित्य को नकारने का असल में कुछ भी प्रयोजन नहीं था किन्तु बीच-बीच में वह भी होता गया।

अम्बेडकर समाज के साहित्य को बौद्ध साहित्य कहे ऐसा भी आग्रहपूर्वक कहा गया। अब इन सम्पूर्ण बातों को मद्दे नजर रखते हुये हम सब को अब कुछ निर्णय लेना चाहिए ऐसा हमें लगता है। पिछले कई सालों से हमने हमारे आलेख में और बोलने में दलित साहित्य इस शब्दप्रयोग का इस्तेमाल करना बंद कर दिया है। मित्रों को व हमारे सम्पर्क में आये उन सभी

को हमने 'दलित साहित्य' शब्द प्रयोग का इस्तेमाल ना करे ऐसा कहा है। हमारे साहित्य को अम्बेडकरवादी साहित्य कहे यह मैं कहता रहता हूँ। यह अभियान ही मैंने अपने मित्रों के साथ मिलकर शुरु किया है।

भाऊसाहब टी.पी.अडसूल, विजय सोनवणे यह अपने साहित्य के बेहद मूल्यवान मिशन को कार्यान्वित करनेवाले कार्यकर्ता है। टी.पी.अडसूल, अप्पा रणपिसे, बी.सी.काम्बले, घनश्याम तलवटकर इन सभी मंडली का साहित्य की घटनासिद्धि में बेहद मूल्यवान हिस्सा है इसे कोई भी नकार नहीं सकता। किन्तु भाऊसाहब टी.पी.अडसूल, विजय सोनवणे और बुद्ध साहित्य का आग्रह करनेवाले अन्य मित्रों को तहेदिल से बताना चाहता हूँ की, 'अम्बेडकरवादी साहित्य' यही नाम हम सब मिलकर इस साहित्य को संबोधित करके इस्तेमाल करें! बुद्ध और उनका धम्म यह बातें बाबासाहब में है ही। बुद्ध क्या, फुले क्या यह सभी हमारे महान पुरुष बाबासाहब अम्बेडकर के विचारों से और कार्य से प्रकाशमान हो चुके हैं। फुले का प्रचंड उथलपुथल करनेवाला आन्दोलन बाबासाहब के देदीप्यमान आन्दोलन के रंगों से दौड़ रहा है और बुद्ध का धर्मातीत व ईश्वरातीत धम्म बाबासाहब के इहवादी क्रांतीकारी विचारों से दहाड रहा है। लोकशाही समाजवाद के तत्त्वज्ञान से बुद्ध का धम्म ही उफनकर बह रहा है। बाबासाहब फुलेमय है। बाबासाहब धम्ममय है। जिनमें सब मौजूद है उन डॉ. बाबासाहब के नाम से ही हमारे साहित्य की पहचान हो यह सम्पूर्ण दृष्टि से अर्थपूर्ण है। बाबासाहब ने बुद्ध को गुरु माना। बुद्ध को अपने अनुभूति में स्थापित करके रखा। स्वयं को बुद्ध से जोड़कर भारत में उजाले की विरासत बाबासाहब ने ही हमारे आँचल में डाल दी है। अन्यथा उस सूर्यकुल से रिश्ता बताने की शक्ति भी हमें प्राप्त नहीं होती। यह सब जिस बाबासाहब के कारण हुआ उनके ही नाम से हमारा यह मौलिक वाङ्मयीन अविष्कार जाना जाय यह उचित ही है ऐसा ही आपको महसूस

होगा।

हम सब मिलकर अपने ललित और वैचारिक दोनों ही प्रकार के साहित्य विश्व को अब अम्बेडकरवादी साहित्य में नामांतरण करने का संकल्प ले। अन्य कोई भी शब्द इस साहित्य को संबोधित नहीं करेंगे यह प्रतिज्ञा करे!

यह करते हुये एक बात बड़ी सतर्कता से हमें करनी होगी। दलित शब्द को हमने फेंक दिया। हम दलित नहीं है। हमारा साहित्य भी दलित नहीं। हम अम्बेडकरवादी है और हमारा साहित्य भी अम्बेडकरवादी है। यह हम गर्व से कहेंगे।

किन्तु अम्बेडकर समाज के ज्यादा से ज्यादा लोगों ने अम्बेडकरवादी साहित्य निर्माण के इस महोत्सव में शामिल होकर और विशुद्ध अम्बेडकरी अनुभूति का लेखन करना चाहिए। अम्बेडकरी अनुभूति की सेहत आला दर्जे की रहेगी, इसकी देखभाल हम सब ने करना जरूरी है। बहर-हाल अम्बेडकरवादी अनुभूति के शील को संजोकर रखने की बेहद जरूरत निर्माण हो चुकी है।

देश का राजकीय, सामाजिक, आर्थिक एवं वाङ्मयीन संदर्भ बदल रहा है। तेजी से यह सब हो रहा है। उक्त सभी पहलुओं पर अम्बेडकरवादी अनुभूति को भ्रष्ट करने का, विकृत करने का उससे सम्बन्धित कल्पयुज्य निर्माण करने का प्रयत्न चारों ओर से हो रहा है। धार्मिक, वैचारिक, राजकीय, वाङ्मयीन सामाजिक इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के समरसंत का जहर अम्बेडकरवादी अनुभूति में मिलावट करने का प्रयत्न छुपी पद्धति से हो रहा है।

‘अम्बेडकरवादी साहित्य’ यह नाम हमारे साहित्य के लिए लिया किन्तु केवल यह नाम लेकर नहीं चलेगा तो अम्बेडकरी जीवन अनुभूति की विशुद्धता संभालने के लिए जागृत रहकर कार्य करना होगा। प्रतिगामी अनुभूति के आक्रमण से अम्बेडकरवादी अनुभूति के चरित्र को बचाना होगा। यह हमारे साहित्य

और समाजक्रांती के लिए चल रहे आन्दोलन की दृष्टि से भी लाभदायक होगा।

इसके आगे हमारे साहित्य का नाम ‘अम्बेडकरवादी साहित्य’ होगा ! :

अम्बेडकरी आन्दोलन में ‘दलित’ शब्द लिखीत या छापील रूप में मुझे बहिष्कृत भारत के १६ नवम्बर १९२८ की आवृत्ति में पहली बार दिखाई दिया। ‘प्रासंगिक विचार’ इस स्तम्भ के अंक में ‘दलित’ शब्द का प्रयोग चार मर्तबा हुआ है। इस स्तम्भ का लेखन डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर का ही है। (देखे, डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर का ‘बहिष्कृत भारत’ और ‘मूकनायक’ : महाराष्ट्र शासन १९९०, पृ. १९३-७, १९४-८), १९२८ में बाबासाहब ने ‘दलित’ शब्द का प्रयोग किस सन्दर्भ में और किस अर्थ से किया था यह देखना जरूरी है- क्रम से देखते हैं...

१. “इस परम्परा की चंगूल में (समाज सुधारणा को विरोध करनेवाली तिलक-चिपलूनकर की परम्परा) में कोई भी फंसे, वह इन्सानियत से वंचित रहेगा यह तजुर्बा है। फिर वह ब्राह्मण हो, पारसी हो, ख्रिश्चन हो अगर दलित अस्पृश्य वर्ग से हो” (तत्रैव : पृ. १९३-७)

२. “अपने स्वार्थ के लिए देश के एक बड़े समाज को दलितावस्था में दबोचकर रखनेवाले यही (ब्राह्मणग्रस्त) लोग है।” (तत्रैव, पृ. १९४-८)

३. “और यह ब्राह्मण मतलब क्या है? बहुजन समाज की अज्ञानतापर निर्भर इनका जातिप्रबलता। किन्तु उसे संजोकर रखने के लिए अब दलित वर्ग तैयार नहीं है, और इनका तो उसे संजोकर रखने का संकल्प है” (तत्रैव : पृ. १९४-८)

४. “...हिंदूपदपतनशाही स्थापन करने की उनकी आशा समूल नष्ट हो गई। एक ओर दलित वर्ग में जागृती होने लगी।” (तत्रैव : पृ. १९४-८)

५. “अंग्रेज महाधूर्त। उन्होंने दलित जनता का विकास ना हो सके इसलिए चातुर्वर्ण्य के सर्वश्रेष्ठ

ब्राह्मण उनपर राजकीय सत्ता की खैरात कर दी।” (तत्रैव : पृ. २२८-२) अन्यत्र प्राप्त उल्लेख इस तरह-

६. कालीचरण नंदागवली ने १९३० में ‘मध्यप्रांत एवं वन्हाड दलित युद्ध मंडल’ स्थापन किया। इस मंडल का कार्यालय दलित आश्रम लकडगंज, नागपुर में था। (विदर्भ के दलित आन्दोलन का इतिहास : एच.एल. कोसारे, नागपुर, १९८४, पृ. १२९) इस किताब के अगले अंक में कई बार दलित शब्द का इस्तेमाल हुआ है।

पहले चार अवतरण में से पहले में दलित शब्द बाबासाहब ने अस्पृश्य शब्द को समांतर समझकर इस्तेमाल किया है। दुसरे में हीन, दबा हुआ इस अर्थ से ‘दलितावस्था’ शब्द का प्रयोग हुआ है। तीसरे एवं चौथे अवतरण में दलित शब्द अस्पृश्य शब्द को पर्याय के तौर पर उन्होंने इस्तेमाल किया था। किन्तु बाबासाहब ने ३०/१२/१९३९ में ‘जनता’ पत्रिका के अपने आलेख में ‘दलितों की अवहेलना, दलितों के दुःख उनके हाथ से दूर नहीं जा रहे।’ इस वाक्य में ‘दलित’ यह शब्द अस्पृश्य शब्द का पर्याय के तौर पर ही इस्तेमाल किया है और त्याग के अग्निदिव्य में शिरकत किये बिना बड़प्पन हांसील नहीं होता। इस वाक्य में ही अस्पृश्य अर्थ से ही उन्होंने शब्द का इस्तेमाल किया है।

१९०१ में ‘सन्मार्गबोधक अस्पृश्य समाज’ संस्था स्थापन हो गई थी। (विदर्भ के दलित आन्दोलन का इतिहास : कोसारे, पृ. २२) १९०६ में ‘अंत्यज समाज कमिटी’ (तत्रैव : पृ. २३) में स्थापन हुई थी। १९१२ में नागपुर में ‘महार सभा’ स्थापन हुई थी। (तत्रैव, पृ. २६), १९२० ‘चोखामेला समाज’ की स्थापना हुई थी। (तत्रैव, पृ. १११)। ‘बहिष्कृत भारत समाज’ १९२२ में स्थापन हुआ था (तत्रैव : पृ. ११५), ‘भारतीय बहिष्कृत समाज संघ’ १९२८ में तो ‘मध्यप्रांत व वन्हाड दलित युद्ध मंडल’ १९३० में स्थापन हुआ था। इस काल में इस प्रकार स्थापन हुये इन सभी

संस्था की तालिका देना यह उद्देश नहीं है। ‘दलित’ नाम से पहली संस्था कब स्थापन हुई थी यह ध्यान में लेने के लिए यह तालिका है। दलित शब्द के बदले अस्पृश्य, अंत्यज, चोखामेला, बहिष्कृत इन पर्यायी शब्दों का इस्तेमाल १९३० के पहले और ३० के पश्चात भी किया गया था यह नजर आता है। इस काल में अस्पृश्य के पीछे महार इस एक जाति के नाम से ही नहीं तो महार जाति की उपजातियों के नाम से भी संस्था स्थापन की गई थी। मिसाल के तौर पर बावणे महार पंच कमिटी (१९२०), बारके महार पंचसभा (१९२०), लाडवन महार पंचकमिटी (१९२५) आदि। बाबासाहब को इन उपजाति व उपजाति अनुसार समितीयाँ मान्य नहीं थी। इसलिए उन्हें इन सभी उपजातियों को ‘एक’ करने का प्रयास किया था। (संदर्भ : जनता : १३/४/४०, शिवतरकांचा लेख) यह ध्यान में लेना जरूरी है।

बाबासाहब ने अस्पृश्य, बहिष्कृत, दलित इन शब्द का इस्तेमाल किया, किन्तु अस्पृश्य को पूर्वास्पृश्य कहना वा गांधीजी समान हरिजन कहना उन्हें मंजूर नहीं था। बहिष्कृत भारत के ४-१-१९२९ के अंक में उन्होंने पूर्वास्पृश्य शब्द के संदर्भ में अपनी प्रतिक्रिया तीव्रता से दर्ज की है।

खैर, तो दलित शब्द का १९२८ में बाबासाहब ने ही अपने लेखन में पहली मर्तबा इस्तेमाल किया था। (इसके पहले काल में ‘दलित’ शब्द का इस्तेमाल हुआ होगा तो पाठक मुझे जरूर सुचित करें। मैं अपना विवेचन दुरुस्त कर लूँगा।) इस नाम से महाराष्ट्र में पहली संस्था १९३० में स्थापित हुई थी।

आमतौर पर १९४८ में मुम्बई में दलित सेवक साहित्य संघ स्थापन हुआ व १९५० में उसका परिवर्तन महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ में किया गया।

दलित शब्द इस काल में साहित्य से जोडा जाने लगा। किन्तु इन संस्थाओं के कई सालों पहले साहित्य से संबंधित मंडल का उदय नागपुर में हुआ था। १९३४

के समय में अस्पृश्य इतिहास साहित्य मंडल स्थापन हुआ तो उसी के बराबरी से नागपुर में ही 'अम्बेडकर साहित्य समाज' १९३५ के वक्त हुआ था। 'साहित्य चर्चा मंडल' ९ नवम्बर १९४१ में स्थापन हुआ था। (संदर्भ : विदर्भ के दलित आन्दोलन का इतिहास : कोसारे, पृ.क्र. क्रम से- २६४, ३२५ एवं ३९१) इसका अर्थ अम्बेडकरी समाज की वाङ्मयीन संस्था पूना-मुम्बई के पहले विदर्भ में शुरू की गई थी यह होता है।

इससे समझ में आता है की साहित्य से जुड़े हुये दलित शब्द को विदर्भ ने जोड़ा नहीं है। मराठवाडा ने जोड़ा नहीं। पूना-कोल्हापुर की मंडली ने जोड़ा नहीं। मुम्बई के अपने मित्रों ने ही साहित्य को प्रथम दलित शब्द से जोडा था। उसमें उन्होंने बहुत गलत किया ऐसा कहना भी उचित नहीं होगा क्योंकि आज जिसे अम्बेडकरी समाज कहा जाता है उसे संबोधित कर १९२८ से अनेक बार डा. बाबासाहब अम्बेडकर ने भी 'दलित' शब्द का इस्तेमाल किया है।

'अम्बेडकर साहित्य समाज' इस संस्था के द्वारा १९३५ के समय में 'अम्बेडकर साहित्य...' संज्ञा का प्रयोग प्रथम नागपुर में हुआ यह सत्य है फिर भी अम्बेडकरवादी तत्त्वज्ञान नुसार संभावित अम्बेडकरवादी ललित एवं वैचारिक साहित्य की और साहित्यशास्त्र की घटना उस काल में विदर्भ को और अन्य किसी को भी प्रस्तुत करना नहीं आया यही भी सच है। मध्य काल में यदा कदा ही किसी ने अम्बेडकरी प्रेरणा का साहित्य वा अम्बेडकरवादी साहित्य इस साहित्य को संबोधित करके कहा फिर भी शब्द की अदलाबदली तक ही वह बहस सीमित रही। अम्बेडकरवादी साहित्य की बुनियाद एवं गहनता किसी ने सिद्ध नहीं की। वर्तमान कुछ सालों में यह संभावना निर्माण हो गई है, ऐसा कहा जा सकता है। अम्बेडकरी प्रेरणा का साहित्य अथवा अम्बेडकरवादी या अम्बेडकर-साहित्य इन शब्दों का इस्तेमाल करनेवालों ने यह शब्द लाभदायक होंगे

ऐसा ललित या वैचारिक साहित्य भी निर्माण किया नहीं। इतना ही नहीं तो वक्त-वक्त पर उन्होंने रची वैचारिक व ललित साहित्य के संदर्भ का मत उनके साहित्य सम्बन्धि किरदार को स्पष्ट अम्बेडकरी तात्त्विक अधिष्ठान नहीं यही हमें कहते हुये दिखाई देते है। अम्बेडकरवादी शब्द प्रयोग करनेवालों ने ग्रेस, अरुण कोलटकर की कविता की तरफदारी अपने लेखन से की है।

विगत कई सालों से मैं स्वयं दलित शब्द को आम तौर पर टाल रहा हूँ। पुराने लेखन से शब्द अब टाला नहीं जा सकता। एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का हिस्सा बनकर उसे रहना जरूरी है। किन्तु पिछले कई सालों से दलित शब्द का प्रयोग मैं भी नहीं कर रहा हूँ। संपर्क में जो भी आयेगा उन सब को उस शब्द का प्रयोग ना करे यह स्पष्ट करके बताता हूँ। देड से दो सालों पहले दिलीप गवली ने कोल्हापुर में दलित साहित्यिक का मेला लगाया था। मुझे भी निमंत्रण प्राप्त हुआ। उस वक्त मैंने उन्हें 'अम्बेडकरवादी साहित्यिक का मेला' यह नाम क्यों जरूरी है और दलित शब्द नकारने की क्यों जरूरत है यह खुलकर समझाया। उन्होंने मेरे अनुरोध पर मेले का नाम बदल दिया। उसी समय यवतमाल जिल्हा के केलझरा गाँव में दलित साहित्य संमेलन संपन्न हुआ। उसके बाद के साहित्य संमेलन का निमंत्रण मुझे प्राप्त हुआ। संयोजक ने भी आकर मुलाकात की। मैंने उन्हें 'दलित' शब्द का इस्तेमाल क्यों ना करे और अम्बेडकरवादी शब्द का ही इस्तेमाल क्यों करें यह समझाया। उन्होंने संमेलन का नाम बदल दिया। यह संमेलन हर साल छोटे बड़े पैमानेपर क्यों ना हो संपन्न होते रहता है। नागपुर के कुछ मित्र मंडली ने 'अ.भा.अम्बेडकरवादी साहित्य संसद' को जन्म दिया और मेरा दाँवा है कि आने वाले दो-चार सालों में दलित शब्द का प्रयोग पूरी तरह बंद होकर रहेगा। इसका समीकरण यह है कि दलित शब्द पर क्रोधित होने के बजाय, उसे बुरा कहकर रुकने के

बजाय उसका प्रयोग किस तरह बंद किया जाय यह कोशिश करनी चाहिये। उसका विकल्प भी सैद्धांतिक स्तर पर समझाना चाहिये।

साहित्य कभी दलित होता है क्या? दलितत्व को मानचिन्ह कहकर सराहना करने लायक है क्या? धम्मस्वीकार करने के बाद भी हम दलित है क्या? दलित साहित्य कम्युनिस्ट के गले से बांधा हुआ साहित्य है। इसी तरह अनेक कारणों का निर्देश कर दलित शब्द बाबत नाराजगी व्यक्त की गई। उपरोक्त कारणों में से कुछ कारण किसी को सही नहीं लगेंगे। कुछ को सही लगेंगे भी। किन्तु मुद्दा कारण सही लगने का या ना लगने का नहीं बल्कि दलित शब्द स्पष्टता से नकारने का है।

कल परसों तक हमने 'दलित' शब्द का प्रयोग किया। सभी ने किया, यह मानकर हमें आज उस शब्द का हर स्तर से समर्थन टालना चाहिये। हमें अपने साहित्य को 'अम्बेडकरवादी साहित्य' ही कहना चाहिये। इसका प्रमुख कारण यह है कि, हमारा साहित्य अम्बेडकरवादी जीवनमूल्य का अविष्कार करनेवाला साहित्य है। यह मूल्य विद्रोही है। भारत के वैदिक काल से आजतक सभी फॅसिस्ट जीवनप्रणाली ध्वस्त करने की इन मूल्यों ने प्रतिज्ञा ली है। बाबासाहब के अनुसार यह फॅसिस्ट Counter Revolutionary जीवनप्रणाली है। यह आध्यात्मवादी-परलोकवादी और धर्मान्ध फॅसिस्ट प्रणाली समता, बंधुता और न्याय की प्रक्रिया नकारनेवाली है। इस फॅसिस्ट प्रणाली को कुचलना हो तो Secular तत्त्वज्ञान के सिवाय विकल्प नहीं है। सेक्युलर तत्त्वज्ञान के लिए भारत के बाहर भीख मांगने की जरूरत नहीं। अलग अलग प्रकार से चार्वाक, बुद्ध के तत्त्वज्ञान में ही Secular के मूल्य साकार हो चुके हैं। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर भी इसी भारतीय सेक्युलर परम्परा का संपन्न अविष्कार हैं। धर्मातीत एवं ईश्वरातीत निहायत इहवादी जीवन अनुभूति यह अम्बेडकरवादी जीवन अनुभूति का स्वरूप

है। १९३५ के वक्त 'अम्बेडकर साहित्य समाज' इस संस्था की स्थापना नागपुर में हुई थी। उसी डोरी को पकड़कर १९४८ के समय में मुम्बई के मित्रों ने अम्बेडकरवादी साहित्य यह नाम अपने साहित्य को देना चाहिये था। किन्तु उन्होंने अपने साहित्य को 'दलित' यह नाम दिया और विसंगती एवं बहस के बिज बो दिये। उन्होंने ही आगे नये कुछ शब्द सुझाये किन्तु यह विवाद खतम नहीं हो सका।

बीस-पच्चीस साल बाद इस संदर्भ में जो वास्तव ध्यान में आया वह आगे दिया गया है। यह चर्चा अपने साहित्य का नाम क्या हो इस संदर्भ में थी। किन्तु हमने सुझाया गया नाम अर्थपूर्ण करनेवाला साहित्य निर्मित करके दिखाने की जरूरत मात्र यदा कदा ही किसी को महसूस हुई। किसी साहित्यविश्व की माँग मौलिक सृजनशील साहित्य निर्मिती यह होती है। मौलिक वैचारिक लेखन और मौलिक समीक्षा लेखन तो करना ही पडता है किन्तु मूलगर्भ ललितलेखन भी करना पडता है। यह निर्मिती किये बिना या उस निर्मिती की प्रेरणा का विस्तार किये बगैर महज साहित्य नाम की चर्चा करना, उसपर बहुत बहस करना यह तो वही बात हो गई कि, जो जन्म ही ना ले सके या अजन्मे औलाद के नामपर बहस की जाय। इसी कारण से साहित्य का वातावरण दुषित होगा और साहित्य के क्षेत्र को कंगाल रहना होगा। प्रत्यक्ष निर्मिती के क्षेत्र में नया क्या घटित हो रहा है? इस नवनिर्माण में अपना कितना योगदान है? क्या हमारा साहित्य भँवर में फँस गया है? क्या हमारे साहित्य में समानता निर्माण हो रही है? प्रत्यक्ष नवनिर्मिती के पीछे पड़ने के बजाय इन्सान पुरस्कार के ही पीछे क्यों दौड़ते हैं? कोई भी साहित्यिक आन्दोलन नवनिर्मिती के भार से दबने की बजाय पुरस्कारों से दब जाती है इसका क्या अर्थ है? स्वयं ही सम्मेलन का आयोजन करें और स्वयं ही अध्यक्ष बने। मन में पक्षपात का जहर संजोकर एकदूसरे पर किचड उछालकर ही कुछ लोगों को आनंद महसूस

होता है। इससे अच्छा यह लोग साहित्यनिर्मिती में शामिल क्यों नहीं होते? साहित्य का आन्दोलन चलाने की यह तरीका नहीं है। यह आन्दोलन नष्ट करने का तरीका मात्र हो सकता है। अपने साहित्य का नाम क्या हो इसपर झगड़ने वालों ने खुदका साहित्य पहले निर्माण करना चाहिये। किन्तु यह होगा ऐसा दृश्य दिखाई नहीं दे रहा है। एक घर की निर्मिती करने की बजाय उस घर का नाम क्या हो इसपर कलह करनेवालों का उत्साह बड़ा ही विपरीत होता है।

साहित्य के जग में वाङ्मयीन नैतिकता का भी प्रश्न ध्यान में लेना पड़ता है। अम्बेडकरी चेतना कौनसी है? अम्बेडकरवादी वाङ्मयीन चेतना का स्वरूप क्या है? इस चेतना की मित्र चेतना कौनसी और शत्रुचेतना कौनसी? अपने साहित्यविश्व के सभासदों का वर्तन उस चेतना अनुसार हो रहा है या उस चेतना को छेद करनेवाला वर्तन उनकी ओर से हो रहा है? उसका हमारे साहित्यविश्वपर कौनसा बुरा असर हो रहा है? इन प्रश्नों का विचार कम से कम जानकार ने तो करना ही चाहिये, यह दृश्य हमारे वाङ्मयीन आन्दोलन में कितनी मात्रा में दिखाई देता है? या इन सवालों का एहसास ही हमें नहीं है। कुछ रिश्ते सम्बन्धों की खातिर, कुछ स्नेह सम्बन्धों की खातिर हमारी मण्डली उपरोक्त सवालों का विचार ही टालते हुये दिखाई देती है?

इस पार्श्वभूमीपर मैं दलित शब्द का अपने साहित्य में इस्तेमाल ना करें यह कह रहा हूँ; और अम्बेडकरवादी साहित्य यह नाम हमने हमारे साहित्य को देना चाहिये यह कह रहा हूँ। मैं अम्बेडकरवाद साहित्य नाम का आग्रह कर रहा हूँ उसके पीछे मेरी कुछ भूमिका है। अम्बेडकरवाद यह एक सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान है। वह धर्मातीत और ईश्वरातीत Secular तत्त्वज्ञान है। आध्यात्मवाद को- प्रतिक्रांतीवाद को अर्थात् फॅसिज़्म को उसका सम्पूर्ण और तीव्र विरोध है। कल की, आज की और कल की सम्पूर्ण परम्परा अम्बेडकरवाद नकारता है। देश के और परदेस के फॅसिज़्म का सम्पूर्ण जहर अम्बेडकरवाद

नकारता है। Counter Revolution से कोई भी समझौता अम्बेडकरवाद को मंजूर नहीं है। अम्बेडकरवाद यह क्रांती का तत्त्वज्ञान है। इहवादी सेक्युलर क्रांती यही तत्त्वज्ञान का ध्येयवाद है। अम्बेडकरवाद यह सम्पूर्ण विश्वसौंदर्य का तत्त्वज्ञान है। अम्बेडकरवाद वाङ्मयीन चेतना यह पूर्णतया सेक्युलर चेतना है। वह धर्मातीत और ईश्वरातीत इहवादी चेतना है। इस चेतना से जिस के व्यक्तित्व का नियंत्रण होता है वह साहित्यिक अम्बेडकरवादी साहित्यिक है। अम्बेडकरवादी साहित्य निर्माण करना जिस तरह मराठी साहित्य के लिए जरूरी है उसी तरह वह भारतीय समाजक्रांती के लिए भी जरूरी है। यह जानकारी मूल्यवान है इसलिए मैंने हमारे साहित्य का नाम 'अम्बेडकरवादी साहित्य' रखने का आग्रह किया है।

संदर्भ :

१. राजा ढाले, 'आंबेडकरवादी साहित्याची भूमिका' (मराठी)
डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर प्रेरणेचे साहित्य, मुंबई, १९७७, पृ. १४६
२. तत्रैव, पृ. १३८
३. तत्रैव, टी.पी.अडसूळ, प्रस्तावना से, पृ.७
४. तत्रैव, पृ.६
५. धनंजय कीर : डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर, आ. दुसरी १९७७, पृ.१२३
६. B.R.Ambedkar : 'Indian Statutory Commission', Dr. Babasaheb Ambedkar Writing and Speeches, Vo.2 Bombay, 1990, P. 463
७. B.R.Ambedkar, What Congress and Gandhi have done to the untouchable, 24th June 1945 (From preface P.6)
Dr. Ambedkar Writing and Speeches, Vol.9 Bombay 1990

(अनुवाद - प्रतिभा)

गीता का पुनर्पाठ : इतिहास के परिप्रेक्ष्य में पुनर्विचार

-मुद्राराक्षस

यह बात ध्यान देने की है कि भारत में सबसे ज्यादा और महत्त्वपूर्ण भाष्य गीता के ही हुए हैं। बारह सौ बरस पहले शंकराचार्य से लेकर परवर्ती बड़े ब्राह्मण विचारक रामानुजाचार्य, मधुसूदन सरस्वती और वामदेव स्वामी के भाष्य विख्यात हैं, पर **ज्यादा हैरानी यह देखकर होती है कि लगभग हर देवता पर एक-एक गीता बाद में लिखी गई जिनकी संख्या सैंकड़ों में है।**

इन भाष्यों में विशेष रूप में रामानुजाचार्य और मधुसूदन ने गीता को पूरी तरह वैष्णव सम्प्रदाय के भक्तिमार्ग का आधार बना दिया। दोनों ही भक्त के पूर्ण आत्मसमर्पण और आराध्य का शरणागत होने को ही परमपद प्राप्ति बताते हैं।

यहाँ हमें नहीं भूलना चाहिए कि इस बीच मुस्लिम संस्कृति से आए सूफ़ी संतों का व्यापक असर भारत पर पड़ रहा था। सूफ़ियों और रामानुज, मधुसूदन के आत्म-समर्पण सिद्धांत में खास की समताएँ देखी जा सकती हैं।

गीता जरूर बौद्ध, जैन, लोकायत और नास्तिक विचारों से सीधे मुठभेड़ करती है और शंकराचार्य भी अपने को उसी तरह सीमित रखते हैं, लेकिन परवर्ती भाष्यकारों ने ज्यादा सामना सूफ़ीमत का ही करना चाहा है। वैष्णव मार्ग और सूफ़ीमत के बीच घोर समानताएँ हैं और इन समानताओं से बचने की कोशिश ही वैष्णव मत का परवर्ती विकास है जो वेदांत का खंडन करके द्वैताद्वैत, शुद्धद्वैत आदि की सीढ़ियाँ उतरता है। अंत में आकर देवपूजा में ठहर जाता है।

गीता के समूचे कथ्य में भक्ति की चर्चा लगभग समूचे ग्रंथ में है। सभी जगह कर्म को व्याख्यायित किया गया है और ज्ञान-चिन्तन समूची किताब में बहुत क्षीण है। शायद यह कहना ज्यादा सच होगा कि ज्ञानमीमांसा की भारतीय परम्परा जिस तरह ब्राह्मण विचार जगत् खारिज करता था, गीता भी उसे खारिज

ही करती है गोकि ब्राह्मणों में ही जो तर्कनिष्ठ और प्रश्नों, संदेहों पर बल देने वाले बुद्धिजीवी थे उनका विरोध गीता में हुआ है।

भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी बुनियाद तर्क है और गीता कठोर शब्दों में संदेह की निन्दा करती है। किसी की ज्ञानमीमांसा या दर्शनशास्त्रीय पड़ताल के लिए सवालिया निशान जरूरी होते हैं, पर गीता का कहना है (४-४०) अज्ञश्च अश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यमि। नायं लोको अस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः। यानी अज्ञानी, श्रद्धा न करने और संशय करने वाला नष्ट हो जाता है। उसके लिए इस दुनिया में भी जगह नहीं है, न दूसरी दुनिया का सुख वह पाएगा।

इसी के साथ यह भी कहा गया है (४-३९): श्रद्धावान लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिं चिरेणाधिगच्छति अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति श्रद्धा करने वाले संयमी को होती है। वह ज्ञान पाकर परम शान्ति पा लेता है।

श्रद्धा एक मूल्यपरक अवधारणा है। ऐसी अवधारणा जिसका मूल्यांकन निहायत व्यक्तिपरक (सब्जेक्टिव) होता है और किसी की भी श्रद्धा को लेकर यह मूल्यपरक फैसला दिया जा सकता है कि श्रद्धा पर्याप्त नहीं थी, श्रद्धा पवित्र मन से नहीं की गई अथवा श्रद्धा में ही खोटा था, इसलिए ज्ञान-प्राप्ति (उक्त प्रसंग में परम आत्मा की प्राप्ति) नहीं हुई। **श्रद्धा तर्कसम्मत नहीं होती, पर गीता बात ही यहाँ से शुरु करती है कि श्रद्धावान ज्ञान पा जाता है।** वह सचमुच ज्ञान पा गया क्या, इसकी पुष्टि का कोई तर्कसंगत उपाय है? ऐसा ज्ञान सचमुच ज्ञान होता है क्या? श्रद्धा के कारण ज्ञान प्राप्त होता है या तर्कहीन विश्वास, इसकी पड़ताल कैसे हो सकती है?

गीता के विचारतंत्र की शुरुआत एक ब्राह्मणपंथी शास्त्र संदेश से होती है। मनुस्मृति में संकर जातियों को बहुत धृणा से देखा गया है। संकर जाति का अर्थ है ब्राह्मणों द्वारा मनुष्य समाज के लिए निर्धारित जातिभेद को न मानना। क्षत्रिय अगर वैश्य स्त्री से विवाह कर लेता है तो वह संकर जातीय (एक तरह का बास्टर्ड) हो जाता है। महाभारत में इसकी बहुत विस्तृत चर्चा है। शल्य और कर्ण के संवाद के बीच कहा जाता है कि तू ऐसे समाज का है जहाँ क्षत्रिय वैश्य से विवाह कर लेता है, वैश्य शूद्र स्त्री या पुरुष से और शूद्र (शिल्पी) क्षत्रिय से। जाहिर है यह ऐसे भारतीय समाज पर व्यंग्य है जो जातिवाद नहीं मानता। मनुस्मृति में आया है (१०-६१) यत्रत्वेते परिध्वंसाज्जायंते वर्णदूषकाः राष्ट्रिकैसहः रुद्राष्टं क्षिप्रमेव विनश्यति अर्थात् जिस राज्य में वर्णदूषक यानी वर्ण-व्यवस्था न मानने वाले (वर्णसंकर) उत्पन्न होते हैं, वहाँ के निवासियों सहित राजा शीघ्र नष्ट हो जाता है।

गीता का संवाद शुरु होते ही अर्जुन ने कहा है कि स्त्रीषु दुष्टाषु जायते वर्णसंकर-स्त्रियों की दुष्टता से मिश्रित जाति के लोग पैदा होते हैं। संकरो नरकायैव कुलघनानां कुलस्य च पतंति पितरो हि एषां लुप्तपिण्डोदक क्रिया (१.४१, ४२) अर्थात् **वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में ही ले जाता है।** पितर लोगों का भी पिण्डदान, जलदान न होने से पतन हो जाता है।

कृष्ण जो खुद भी पिछड़े वर्ग के हैं, यादव हैं, आगे वर्ण-व्यवस्था की स्थापना करते हैं- (४.१३) चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः। तस्यकर्तारमपि मां विद्धि अकर्तारम अव्ययम्। **मैंने गुण और कर्म देखकर चार वर्णों की रचना की। मैं उस सबका कर्ता हूँ, पर तुम तुम्हें अकर्ता ही जानो।**

यह एक विचित्र बात कही गई है कि चारों वर्ण गुणक्रम के अनुसार रचे गए। आखिर किसी को शूद्र क्यों बनाया गया? वह पहले से ही तो शूद्र नहीं था।

वह पहले से ही शूद्र होता तो उसमें कृष्ण की क्या भूमिका हो सकती थी? **जब बनाना ही था तो सबको ब्राह्मण ही क्यों नहीं बनाया?** अद्वारहवें अध्याय का श्लोक ४१ तो उक्त श्लोक के विपरीत ही बात कहता है-ब्राह्मणक्षत्रियविशां च परंतप कर्मणि प्राविभक्तानि स्वभावप्रीवैगुणैः। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कर्म और स्वभाव के कारण विभक्त किए गए। कृष्ण विभक्त करने का श्रेय न लेते तो क्या अंतर पड़ना था क्योंकि गुण, कर्म, स्वभाव से वे भिन्न तो थे ही। गीता में लिखी गई बातों में जो अंतर्विरोधी हैं उनकी यह एक बानगी है। इस तरह हे अंतर्विरोधों को हम आगे देखेंगे। पहले हम शुरु के उन छह अध्यायों पर विचार करेंगे जिनमें कर्मयोग देखा गया है। गीता के कुछ बेहद बहुप्रचारित श्लोक दूसरे अध्याय में हैं। अक्सर ब्राह्मण-कर्मकांडों में, खास तौर से मृत्यु के अवसर पर इसी अध्याय के कुछ श्लोकों का पाठ किया जाता है।

बौद्ध विचारकों और नास्तिकों ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया था। बौद्धों में अनात्मवाद एक बुनियादी सिद्धांत रहा है। बौद्ध विचारकों के अनुसार, सामान्य, अशिक्षित जन (पृथग्जन) में अनात्मभाव नहीं होता, वह आत्मग्राही होता है। यहाँ अनात्मभाव का अर्थ है वस्तुओं, भौतिक पदार्थों से लगाव न होना। पृथग्जन वस्तुओं के मोह में फँसा रहता है। इस अवधारणा में शरीर में रहने वाली किसी आत्मा नाम की चीज का कोई निशान नहीं है। काफी आध्यात्मिक लगने वाली उक्त बात का अंत जिस श्लोक से होता है वह यह है-हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोग्यसे महीम्। तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः। यानी अर्जुन, अगर तू मारा जाएगा तो स्वर्ग जाएगा और विजयी होगा तो पृथ्वी का भोग करेगा। इसलिए तू उठ और आत्मविश्वास से युद्ध कर।

यह स्वर्ग क्या है? स्वर्ग की व्याख्या भी हम देख

लें जिसकी प्राप्ति की चर्चा गीता में है। स्पृयते स्वर्यते गीयते च इति यानी जहाँ अध्यात्म होता है, जहाँ कोई रोकटोक नहीं होती और जहाँ गाना-बजाना होता है, वहीं स्वर्ग होता है। वैसे यह सवाल भी यहाँ किया जा सकता है कि जहाँ यह सब होता है वह तो ऋत विरोधी है, वेदोक्त जीवनचर्या का विलोम है फिर उसकी प्राप्ति की आकांक्षा क्यों? मीमांसा के अनुसार, जहाँ कोई कष्ट नहीं होता, सुख ही सुख होते हैं, वह स्वर्ग होता है। न्यायदर्शन में कहा गया है कि जहाँ दुखों की उत्पत्ति करने वाले मन प्रभावित नहीं करते और जहाँ चाही हुई वस्तुएँ मिल जाती हैं, वहीं स्वर्ग होता है। पद्म पुराण के अध्याय ९० में स्वर्ग का विवरण यों है- जहाँ दिव्य आनंद होते हैं, जहाँ अनेक सुंदर चीजें होती हैं, बाग-बगीचे होते हैं, पुण्य होते हैं, शुभ कर्म होते हैं (यानी कर्म वहाँ भी होता है।) कामना के सभी फलों के वृक्ष होते हैं (शायद सिर्फ बादाम, सेब, काजू, अंगूर ही होते हैं) यात्रा के लिए दिव्य विमान होते हैं-इत्यादि। पता नहीं यही सब स्वर्ग में क्यों होता है? कुछ शताब्दी ईसापूर्व से लेकर आज तक कुलीन के पास तो इससे कहीं ज्यादा कुछ होता है। पश्चिमी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मालिकों के पास जो कुछ वह स्वर्ग की कल्पना करने वालों को भी सूझ नहीं सकता। जितनी चीजें स्वर्ग में उपलब्ध पद्म पुराण में बताई गई हैं उससे ज्यादा सुख-साधना तो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के नौकरों के पास भी होते हैं। पद्म पुराण में यह जरूर दुहराया गया है कि 'न तत्र नस्तिकाः यंति'- स्वर्ग नास्तिक नहीं पाते, पर बर्टेण्ड रसेल या सार्त्र जैसे नास्तिक तो स्वर्ग में वर्णित सर्वस्व से कहीं ज्यादा कुछ जीते जी प्राप्त करते, भोगते हैं। आगे हम देखेंगे किसी सांसारिक सुख भोग को गलीता में निन्दनीय भी माना गया है फिर भी उन्हीं सुख भोगों के स्वर्ग की प्राप्ति का अर्जुन को स्वप्न भी दिखाया गया है। यहाँ हमें यह याद रखना चाहिए कि इस तरह के स्वर्ग की कोई परिकल्पना बौद्धों में नहीं था। शायद

यह इसलिए भी सम्भव हुआ कि बौद्ध विचारक मरण को मरण के रूप में ही देखते थे जबकि ब्राह्मण विचारक यह स्वीकार नहीं करना चाहता था कि मरकर वह समाप्त हो जाएगा। जिस सांस्कृतिक परिदृश्य को उसने समाज पर आरोपित किया था, उसके प्रहरी के रूप में वह बना रहना चाहता था। वह यह जाहिर नहीं होने देना चाहता था कि वह मर गया तो लोग इत्मीनान की साँस लें। वह अभी जीवित है, मरकर भी मरा नहीं, उसका सिर्फ देहान्तर हुआ है, वह एक दूसरी देह में रह रहा है इसलिए ब्राह्मण के हित के लिए यज्ञ करते रहो, ब्राह्मण को दान देते रहो। इस तरह की काव्यात्मक अभिव्यक्ति गैर-ब्राह्मण आर्यों को प्रभावित भी करती थी। बाहर से आकर छा गए ब्राह्मणों के समुदाय से बाहर कुलीन या भारतीय आर्य सम्पूर्णतः शिक्षित हों यह जरूरी नहीं है। ऐसी हालत में उन पर सामाजिक, मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालना ब्राह्मण के लिए मुश्किल नहीं था। जब वह लोगों के देखते-देखते निस्संतान राजा को संतान दे सकता था तो वह शरीरांतरित आत्मा के रूप में हमेशा मौजूद रहता है, यह मनवा सकना उसके लिए मुश्किल नहीं था। अपनी इसी क्षमता के चलते ब्राह्मण ने समाज को स्वर्ग का विश्वास दिला दिया। अपनी इसी क्षमता के चलते ब्राह्मण ने समाज को स्वर्ग का विश्वास दिला दिया। यहाँ एक श्लोक हम और उद्धृत करना चाहेंगे (९-७)- सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कलपादो विसृजाम्यहम्। यानी कल्प के अंत में सारे प्राणी मुझमें लीन हो जाते हैं और अगले कल्प में मैं उन्हें दुबारा बनाता हूँ। यह एक तरह की इस्लामी आखरत की अवधारणा है। लेकिन कल्प जब समाप्त होगा तब होगा, सारे मनुष्य परमतत्त्व को प्राप्त हो जाएँगे, पर स्वर्ग का क्या होगा? और जब लोगों को स्वर्ग जाना ही है तो परमपद प्राप्ति का अर्थ क्या है? स्वर्ग से क्या परमपद ज्यादा सुखमय है? तब सुकर्म के बाद स्वर्ग क्यों? सीधे परमपद ही क्यों नहीं?

आगे हम देखेंगे कि गीता के कथनों में परस्पर भारी अंतर्विरोध भी है और उलझाव भी। किसी वैज्ञानिक दृष्टि वाले अध्येता के लिए गीता व्यवस्थित दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत नहीं करती। शायद इसी उलझनपूर्ण स्थिति को तर्कसंगत बना सकने की कोशिश ही इस किताब के विविध भाष्यों में की गई होगी। गीता अत्यंत सरल और पारिभाषिक शब्दावलि से मुक्त संस्कृत की किताब है। अन्य भाषाओं में गीता के अनुवाद तो समझ में आते हैं, पर संस्कृत में ही इस किताब के भाष्य की जरूरत क्यों पड़ी? ब्रह्मसूत्र, सांख्य, वैशेषिक आदि सूत्रों का भाष्य तो समझ में आता है क्योंकि सूत्रों की भाषा भी अपेक्षाकृत प्राचीन है और लेखन-शैली तो लगभग पहेलियों जैसी है। बड़ा वक्तव्य भी बेहद सांकेतिक भाषा में है। इन सूत्रों को समझने के लिए विशेषज्ञ के भाष्यों की जरूरत होती ही है। वेद की भाषा बेहद प्राचीन और दुरुह है। वेदभाष्य भी इसीलिए जरूरी रहे हैं। पर गीता न तो सूत्रों में लिखी गई है न ही उसकी भाषा वेद और ब्राह्मण ग्रंथों की तरह दुरुह और प्राचीन है। तब गीता के भाष्य क्यों जरूरी हुए?

आदि शंकराचार्य ने गीताभाष्य की शुरुआत करते हुए सबसे पहले गीता के उस महत्त्व पर जोर दिया है जिसके कारण यह किताब याद करने लायक हुई। गीता का जो महत्त्व शंकराचार्य ने बताया है वही उनके द्वारा भाष्य किए जाने का भी कारण माना जा सकता है। उन्होंने तीन बातें कही हैं- धर्म ग्राह्यामास वेदोक्तम् ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं तथा ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः। पहली बात यह कि गीता वेदोक्त धर्म धारण कराने का साधन है, दूसरी बात गीता ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिए लिखी गई और तीसरी बात ब्राह्मणत्व की रक्षा करने से सब-कुछ बच सकता है।

शंकराचार्य का अभियान आठवीं सदी ईसवी का है। शंकराचार्य ने अपने पूर्ववर्ती ब्राह्मण आचार्य कुमारिल भट्ट के काम को ज्यादा बड़े बुद्धि कौशल से आगे

बढ़ाया था। कुमारिल वेद और ब्राह्मण-विरोधी विचार परम्परा को चुनौती देने का प्रयत्न कर रहे थे, पर यह इतना आसान नहीं था। पहली ईसवी सहस्राब्दि के पूर्वार्ध में रामायण, महाभारत और पुराण आदि के वर्तमान रूप तैयार होने के बावजूद समूचे उपमहाद्वीप में वैचारिक दृष्टि से ब्राह्मणत्व लगभग असहाय स्थिति में था। शक्तिशाली सम्राट कनिष्क पहली सदी का बड़ा बौद्ध संरक्षक था और नागार्जुन जैसी विराट प्रतिभा उस समय की देन थी।

न्यायसूत्र मूल रूप से ई.पू. तीसरी सदी की रचना थी, पर तार्किक बौद्धों को उत्तर देने के लिए चौथी सदी ईसवी में इसी न्याय सूत्र का व्यवस्थित भाष्य वात्स्यायन ने लिखा। इसका अत्यंत प्रखर जवाब बौद्ध तार्किक दिङ्नाग ने दिया जो पाँचवी सदी ईसवी के थे। वात्स्यायन के समर्थन और बौद्ध दिङ्नाग को जवाब देने के लिए उद्योतकर ही नहीं अन्य ब्राह्मण विचारकों को सबसे ज्यादा निरस्र किया उद्योतकर के ही समकालीन विराट बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने। उसके बारे में किंवदंतियाँ हैं कि जिस ब्राह्मण सभा में वे पहुँच जाते थे, उसमें विरोधियों की आवाज गायब हो जाती थी। निस्संदेह नागार्जुन के बाद की सदियों में पहली सहस्राब्दि ईसवी के अंत तक दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में जबरदस्त टकरावों का काल रहा है।

नागार्जुन से लेकर उद्योतकर और धर्मकीर्ति आदि तक की वैचारिक चहल-पहल के साथ हमें तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक स्थिति के एक दिलचस्प पहलू को भी देखना होगा। यह आर्थिक, सामाजिक स्थिति इतिहास की एक ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना है जो भारतीय ऐशियाई अफ्रीकी सांस्कृतिक महासागर के भारतीय खंड में बहुत महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप करती है।

करीब १८० ई.पू. मौर्य सम्राट की हत्या करके पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण ने राज्य पर अधिकार कर लिया। वह बौद्ध धर्म के विराध के लिए जाना जाता है। बाद में यहाँ कण्व शासन करते रहे। इनका राज्य

ई.पू.पहली सदी के अंतिम दशकों तक चलता रहा। ईसवी पहली सहस्राब्दि की प्रारम्भिक सदियों में मध्य और उत्तर-पश्चिम क्षेत्रों का भारतीय इतिहास जबरदस्त राजनीतिक उथल-पुथल से भरा था। भारत के अन्य भाग भी राजनीतिक संक्रांति में मुक्त नहीं थे। शुंग, सातवाहन, शंक, कुषाण, इंडो यूनानी जातीयताओं के कारण जहाँ शासनतंत्र में भारी उलटफेर हो रहे थे वहीं समाज सांस्कृतिक स्थितियों में पहले से कहीं ज्यादा बड़ी संक्रांति हो रही थी। मौर्य राजाओं ने अपनी शासकीय और सैनिक सुविधाओं के लिए यातायात सुविधाओं को काफी विकसित किया था। बाद में पहली ईसवी सहस्राब्दि के शुरु में हर क्षेत्रीय शासक ने अपनी ताकद बढ़ाने के लिए भारतीय व्यापारतंत्र को विश्वास में लेने की कोशिश की।

यहाँ हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि वेदपूर्व, वेदकालीन और बुद्धकालीन भारत में प्रत्येक जातीयता हर क्षेत्र की समूची आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक गतिविधि में सीधे हिस्सेदारी करती थी, भले ही वैदिक संस्कृति के धारक ब्राह्मणों से उनका जबरदस्त टकराव हो रहा था। राजसत्ता से जुड़ लोगों का एक समुदाय होता था, तो दूसरा बड़ा समुदाय द्वेष, शिल्प, श्रम से जुड़ा था, जिन्हें बाद में ब्राह्मणों के दबाव में शूद्र बनाया गया। वे शिल्पी, कामगार और किसान महत्वपूर्ण सामाजिक भूमिकाएँ निभा रहे थे। अनेक राज्य, विशेषकर गणतंत्रीय व्यवस्था के राज्य वे ही चला रहे थे। उनके उत्पादनों की माँग दुनिया के दूसरे देशों में भी इतनी ज्यादा थी कि वे खासा समृद्ध समाज बने हुए थे। श्रमिकों शिल्पियों ने उत्पादन और उसके व्यापार की सुविधा के लिए वर्तमान सहकारी व्यवस्था की तरह श्रेणि संगठन बना रखे थे जो खासी बड़ी और प्रभावशाली संस्थाएँ थी। अक्सर वे राजसत्ता तक को कर्ज देते थे। बहुत तरह की सामाजिक लाभकारी गतिविधियाँ ये श्रेणि संगठन संचालित करते थे।

ब्राह्मणों ने जिन क्षेत्रों में राजसत्ता को अपने वश में किया, वहाँ सत्ता और शासन से जुड़े लोगों को इस समुदाय से अलग किया ध्यान देने की बात है कि ब्राह्मण धर्मसूत्रों में वैश्य या व्यापारी का दर्जा तीसरा ही नहीं है, वह बस थोड़ा-सा ही शूद्रों से ऊपर है बल्कि अनेक व्यापारी कामगार जातियाँ अर्धवैश्य और अर्धशूद्र की स्थिति में रखी गई है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ईसवी सहस्राब्दि के पूर्व के भारत में अनेक शिल्पी कामगार समुदाय के लोग शक्तिशाली राजा भी होते हैं। नंदवंश, मौर्यवंश या गुप्तवंश उसके उदाहरण हैं। यह अलग बात है कि चंद्रगुप्त मौर्य या समुद्रगुप्त जैसे राजा ब्राह्मणों की सांस्कृतिक, सामाजिक पराधीनता खुशी से स्वीकार करते रहे थे।

पहली सहस्राब्दि ईसवी का पूर्वार्ध, ब्राह्मण और ब्राह्मण-विरोधी भारतीयों का सत्ता-संघर्ष भी चलता रहा और वैचारिक युद्ध भी होता रहा। भारतीयों और ब्राह्मणों के बीच सत्ता-संघर्ष की ठीक ऐसी ही तस्वीर दूसरी सहस्राब्दि की आखिरी दो शताब्दियों में देखने में आती है। १७५७ का युद्ध जीत लेने के बाद भी अंग्रेज खुद राजा नहीं हो पाता, मीर जाफर को राजा बनाता है। इसके बाद अपने व्यापारिक प्रतिष्ठानों (किलों) और सेनाओं के बावजूद अंग्रेज अधिकांशतः दीवानी या रेजिडेंसी तक ही प्राप्त कर पाता है। दिल्ली के बादशाह या अवध के नवाब को वह पदच्युत नहीं कर पाता गोकि ये लोग नामामत्र के ही शासक थे। भारत आने के बाद वेदकाल से लेकर पहली सहस्राब्दि ईसवी के पूर्वार्ध तक ब्राह्मण को दीवानी या रेजिडेंसी से ही संतोष करना पड़ा था। वह प्रभाव में भले ही कितना बड़ा क्यों न हो जाए अधिकांशतः राजा का पुरोहित या मंत्री ही हो सकता था।

ऐसी स्थिति में ब्राह्मण का अस्तित्व तभी बचा रह सकता था जब वह अपनी कट्टरता की रक्षा कर पाए, अपनी जातीय परम्परा की महिमा को सामाजिक

स्वीकृति दिला पाएँ इसवी सन् की पहली सहस्राब्दि का पूर्वार्ध इसी जी तोड़ कोशिश का सुबूत देता है।

चार्वाक भारत में एक प्राचीन अनीश्वरवादी और भौतिक वस्तु सत्य को ही अंतिम मानने वाले विचारक थे। ब्राह्मण संस्कृति सबसे गहरी घृणा चार्वाक से ही करती थी। सम्भवतः चार्वाक सिर्फ विद्वान ही नहीं थे, एक बड़े सामाजिक कार्यकर्ता भी थे जो ब्राह्मण कर्मकांड का सीधा विराध जनमंचों पर भी करते थे। ब्राह्मण के लिए वे सबसे बड़ी चिन्ता का विषय थे। नागार्जुन, दिङ्नाग-धर्मकीर्ति आदि सामान्य जन में अपनी बौद्धिकता के चलते ज्यादा बड़ा स्थान नहीं बनाते होंगे। पर चार्वाक या उनके शिष्य सामान्य जनों में भी पैठ बना लेते होंगे।

शायद इसी स्थिति का सामना करने के लिए संस्कृत के साहित्यकारों ने भी चार्वाक को ही निशाना बनाया होगा। यह काम भट्टनारायण के नाटक वेणीसंहार (सातवीं सदी ईसवी) और बाणभट्ट की रचना हर्षचरितम् (सातवीं सदी ईसवी) में बड़ी शिद्दत से किया गया। यह लगभग वही समय है जब कुमारिल भट्ट अपना अभियान शुरू करते हैं।

वेणीसंहार नाटक में चार्वाक एक बहुत बड़े और बेहद बुरे खलनायक के रूप में चित्रित हुए हैं। उन्हें एक कपटवेशधारी (ब्राह्मण के वेश में) राक्षस बताया गया है-

(ततः प्रविशति मुनिवेशधारी चार्वाको नाम राक्षसः)

राक्षसः (आत्मगतम्) एषो अस्मि चार्वाको नाम राक्षसः दुर्योधनस्यमित्रं पांडवान् वंचयितुं भ्रमामि (प्रकाशम्) तृषितो अस्मि तृषितो अस्मि। सम्भावयतु माँ कश्चिम् जलच्छाया प्रदानेने।

-वेणीसंहार, अंक ६

(मुनिवेशधारी चार्वाक नाम का राक्षस आता है)

राक्षस : (स्वगत) यह मैं चार्वाक नाम का राक्षस हूँ। दुर्योधन का मित्र हूँ। पांडवों के साथ छलकपट करूँगा। (प्रकट रूप से) मैं प्यासा हूँ, मैं प्यासा हूँ।

चाहता हूँ कुछ पानी और आश्रय मिल जाँएँ।

-वेणीसंहार, अंक ६

इस नाटक में भीम और दुर्योधन के गदा युद्ध के समय चार्वाक ही धोखाधड़ी करके भीम को मरवा देता है। तब अर्जुन लड़ते हैं। वे भी मारे जाते हैं। इसके बाद युधिष्ठिर को वह लगभग आत्मदाह तक पहुँचा देता है। इस प्रसंग में न तो कुछ ऐतिहासिक है, न महाभारत सम्मत है। फिर यह कथा नाटक में क्यों आई? जाहिर है नाटक का ब्राह्मण लेखक भट्टनारायण नाटक में इस तरह की बात कहकर आम जनता में चार्वाक की छवि खराब करना चाहता था।

ग्यारहवीं सदी ईसवी का नाटक प्रबोचंद्रोदय है। यह नाटक श्रीकृष्ण मिश्र ने लिखा था। इसमें चार्वाक राक्षस रूप में तो नहीं दिखाए गए हैं, पर उनके तर्कों को हास्यास्पद जरूर बनाया गया है। बारहवीं सदी में श्रीहर्ष में महाकाव्य नैषधीय चरितम् में दमयंती के यहाँ से लौटते वक्त एक भीड़ दिखाई देती है जिसमें से एक व्यक्ति देवताओं को कटुवचन कहने लगता है। वह थोड़ी बिगड़ी हुई भाषा में चार्वाक के तर्क सुनाता है।

ब्राह्मण उदारवाद और ब्राह्मण कट्टरता के बीच बात समान रही है। दोनों का ही प्रमुख उद्देश्य बौद्ध, जैन और नास्तिकों का पूर्ण उच्छेद करना और ब्राह्मण प्रभुसत्ता की स्थापना करना रहा।

पहली सहस्राब्दि ईसवी की एक और बड़ी भूमिका है जिसका नायक भी ब्राह्मण हुआ। बौद्ध या वस्तुतत्वादी तार्किक लोगों ने तो दर्शन-चिन्तन और विज्ञान संबंधी काम किया, लेकिन ब्राह्मण ने अपनी सांस्कृतिक प्रभुता के लिए साहित्य के क्षेत्र में व्यापक और प्रशंसनीय काम किया। उपनिषदों की तरह ही ब्राह्मण साहित्य को भी विश्वस्तर पर लोकप्रियता मिली। नाटकों और काव्यों की लोकप्रियता अभूतपूर्व कही जाएगी।

संस्कृत साहित्य में सबसे पहला महत्त्वपूर्ण नाम अश्वघोष का था। अश्वघोष कनिष्क के दरबार में रहे

बताए जाते हैं। यानी उनका समय पहली सदी ईसवी है। एकमात्र बड़े बौद्ध कवि हैं। इनके बाद संस्कृत के उन ब्राह्मण साहित्यकारों का सिलसिला शुरु होता है, जिनका इतिहास पंडितराज जगन्नाथ तक चलता है जो औरंगजेब के दरबारी थे और जिनकी इसलिए घोर निन्दा हुई थी कि उन्होंने एक मुस्लिम युवती से शादी कर ली थी। वे बड़े काव्यशास्त्री थे।

संस्कृत साहित्य, जो भास से शुरु होता है, मृच्छकटिकम् जैसे बिरले अपवाद छोड़कर प्राचीन ब्राह्मणग्रंथों, पुराणों और महाकाव्यों के कथानकों को लेकर ब्राह्मण संस्कृति और कर्मकांड की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए लिखा गया। भास ने ब्राह्मण मंत्री के प्रभाव में राजसत्ताएँ बनने-बिगड़ने की कथाएँ दीं तो कालिदास ने रघु के समुचे वंश से लेकर शिव-पार्वती को महिमा-मंडित किया भारवि अर्जुन द्वारा शिव के दिव्यास्त्र पाने की कथा कहते हैं तो माघ कृष्ण कथा का एक अंश शिशुपाल वध में देते हैं। भवभूति राम के जीवन का उत्तरार्ध लिखते हैं और यह सब स्तरीय है। यह अलग बात है इस समूचे साहित्य का प्रमुख लक्ष्य शायद वात्स्यायन के कामसूत्र के प्रभाव में स्त्री-भोग को सबसे ज्यादा जगह देना रहा है। अगर देवियों का जिक्र भी है तो अभूतपूर्व यौन आनंद के लिए जैसे कुमार सम्भवम् या गीत गोविन्दम्। सम्भव है स्त्री को ब्राह्मण संस्कृति जैसे अत्यंत नीचे के दर्जे पर रखती रही है, उसी तरह उसके नग्नतम भोग की भी समर्थक रही हो। आखिर अश्वमेध यज्ञ जैसे अनुष्ठानों में रानी के स्तर की स्त्री को लेकर भी ब्राह्मण-समाज बलि के लिए लाए घोड़े से मैथुन के समय एक रानी की मृत्यु तक इतिहास में दर्ज है। शायद ब्राह्मण की यही कामलिप्सा संस्कृत भाषा के साहित्य में अश्लीलता की हद तक पहुँचकर व्यक्त होती है।

भारतीय इतिहास में ब्राह्मण भारत में एक बार अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित समाज को बर्बर हिंसा द्वारा दबाता है, पर संख्या में कम होने के कारण

पूरी तरह सत्ता नहीं सँभाल सकता। भारत आए अंग्रेजों ने भी १८५७ में अभूतपूर्व हिंसा और बर्बरता का व्यवहार किया था। सैंकड़ों छोटे-छोटे शासन तंत्रों में बँटे भारत पर उनकी दहशत हावी हो गई थी। पर समूचे देश पर शासन करने लायक शक्ति अंग्रेजों के पास नहीं थी। अधिकांश जगहों पर अंग्रेज ने उन राजाओं, नवाबों को ही बनाए रखा जो अंग्रेजों की इच्छा पर चल सकते थे। ब्राह्मण प्रभुत्व का दूसरा काल ठीक ऐसा ही था। नंदवंश के पतन और मौर्यवंश की स्थापना इसी के उदाहरण हैं। ब्राह्मण चाणक्य नंदवंश समाप्त करवाता है, पर खुद राजा नहीं बनता। राजसत्ता वह मौर्यों को सौंपता है। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण के लिए अस्तित्व बनाए रखना चिन्ता का विषय रहा ही होगा।

भारत में शासन पर अधिकार हो जाने के बाद बर्तानिया स्थित अंग्रेज जाति ने अपनी सत्ता को मजबूत करने के लिए संस्कृति को बड़ा साधन बनाया था। उसने धीरे-धीरे नाटक, साहित्य, शिक्षतंत्र, अर्थतंत्र में सीधे हस्तक्षेप किया था। ठीक यही काम ब्राह्मण ने भारत में ईसवी सन् के आसपास शुरु किया अनुमानतः इसे चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री की कृति माना जाता है, पर यह तथ्य असंदिग्ध नहीं है। **कौटिल्य का अर्थशास्त्र और मनुस्मृति नामक धर्मशास्त्र, दोनों की भूमिका एक ही है और दोनों ही किताबे उस समाज और राज्यव्यवस्था का विवरण देती हैं जिसमें ब्राह्मण सर्वोपरि रहे और सारी राजनीतिक, सामाजिक प्रक्रिया वैसे चले जैसा ब्राह्मण आदेश दे।** ईसा की पहली सहस्राब्दि एक काम और बड़ी शिद्दत से करती है- जिस राजसत्ता को ब्राह्मण अपने मंत्रित्व और पौरुहित्य से काबू में रखता है, उसे बेहद पतनशील भी बनाता है। उसकी दिनचर्या को स्त्री-भोग और शराब में डुबोता है। क्रीड़ा, आमोद, प्रमोद, शिकार, नाच-गाना, अत्याधिक वैभवशाली जीवन उसका सहज आचरण बना दिया जाता है। कामसूत्र में जिस विलासी

जीवन की तस्वीरें दी गई हैं, वे राजा की आम जीवनचर्या हैं। राजा भी धर्म, परलोक और राज्यव्यवस्था पुरोहित और मंत्री को सौंपकर निश्चिन्ततापूर्वक स्त्री रमण में लग जाता है। दास-दासियाँ ही नहीं, असंख्य रानियाँ। राजा महल में ले आए, इसकी पूरी छूट ब्राह्मण ने उसी को दी। दुष्यंत शिकार करने भी जाता है तो कण्व की पाली लड़की के साथ वहीं सोना शुरु कर देता है। ब्राह्मण कवियों और नाटककारों ने इसके खुले चित्रण किए।

ब्राह्मण साहित्यकारों ने निरपवाद रूप से राजाओं के सुख के लिए घोर विलासी साहित्य लिख और स्त्री को नग्नतम बनाकर पेश किया राजा ऐसे साहित्य की उत्तेजना में डूबते रहे। ब्राह्मण का एक करिश्मा इतिहास में यह था कि वह निस्संतान राजा को संतान दे देता था और दूसरा यह कि वह राजा के पराक्रम के पूर्णतः तबाह करता था। राजा को परलोक जरूर मिलेगा यह सिद्ध करने के लिए राजा से यज्ञ करवाता था। इसमें भी भारी आर्थिक लाभ ब्राह्मण को ही मिलता था, राजा इस भ्रम में जिन्दा रहता था कि उसने परलोक ब्राह्मण के जरिए पक्का करवा लिया। आगे हम गीता के अंतरंग को इस पृष्ठभूमि में भी देखेंगे।

ब्राह्मण की वैचारिक जरूरत और वर्ण-व्यवस्था :

गीता का एक बहुत बड़ा कथ्य है श्रद्धा और भक्ति। गीता के चौथे अध्याय का श्लोक है (३८) श्रद्धवांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयत इन्द्रिय ज्ञानलब्ध्वा परां शान्तिं अचिरेण अधिगच्छति यानी जिसमें जितेन्द्रियता के साथ श्रद्धाभाव होता है उसे ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान प्राप्त करके तत्काल परम शांति मिल जाती है। अगले श्लोक में बात और साफ कर दी गई है जिसमें श्रद्धा न हो और जो संदेह करता हो, वह पुरुष बरबाद हो जाता है। एक और जगह इसी तरह के अपशब्दों के साथ कहा गया है (९-३) जिनमें श्रद्धा नहीं होती है वे लोग जीते-मरते रहते हैं-मृत्यु संसारवर्त्मनि। जिस यज्ञकर्म को लेकर गीता में

संदेह उठाए गए हैं, उन्हीं यज्ञों को भी श्रद्धा के साथ करना चाहिए, यह भी गीता में कहा गया है।

यह श्रद्धा ध्यान देने वाली चीज है। दिलचस्प है कि भक्ति और श्रद्धा में ज्यादा फासला नहीं है। दोनों शब्द लगभग एक ही तथ्य को व्यक्त करते हैं-दोनों का अर्थ आत्मसमर्पण होता है-दोनों ही स्वामिभक्ति का अर्थ देते हैं। दोनों ही अपनी बुद्धि और विवेक को शारिज करने की प्रेरणा देते हैं।

आत्मसमर्पण, स्वामिभक्ति और विवेकशून्यता को ही बड़ी चीज बताने वाली श्रद्धा का ही दूसरा, ज्यादा खुला अर्थ देने वाले शब्द भक्ति को गीता में बड़े पैमाने पर प्रतिष्ठा दी गई है। गीता में कहा गया है (७-१५) न माँ दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। मामाया अपहत ज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः। यानी मूर्ख और नराधम, माया के वश में पड़कर आसुरी प्रवृत्ति के हो जाते हैं, वे मुझे नहीं मानते। अगले श्लोक १७ में कहा गया है-वे लोग मुझे बहुत पसंद हैं जो मुझसे भक्ति करने के कारण ज्ञानी हो गए। श्लोक यह बात बहुत साफ शब्दों में कहता है कि ज्ञानी वही हो सकता है जो आत्मसमर्पण कर देता है, स्वतंत्र रूप से सोचने-समझने के काम से दूर रहता है।

ईसवी सन् के पहले की और बाद की भी कुछ सदियाँ ब्राह्मण की चिन्ता का कारण बन रही थीं क्योंकि उनमें स्वतंत्रचेता बुद्धिजीवी बड़ी संख्या में मौजूद थे। इसलिए ब्राह्मण यह जरूरी मान रहा था कि कहीं-कहीं विवेक की स्वायत्तता पर रोक लगे और लोगों को बिना प्रश्न किए आत्मसमर्पण सिखाया जा सके। गीता जब भी लिखी गई हो, उसकी यह भूमिका काफी कारगर हो, इसके प्रयत्न बड़े पैमाने पर हो रहे थे।

गीता ने बहुत जोर देकर बहुदेववाद को भी स्वीकार किया गोकि कई जगह वह अद्वैत वेदांत को प्रतिष्ठित करती है। अध्याय ७ को ही श्लोक २९ में कहा गया है- यो यो याँ याँ तनु भक्तः श्रद्धयार्चितुं इच्छति तस्य

तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् यानी जो भक्त जिस किसी देवता की भक्ति को स्वीकार करता हूँ।

गीता में 'मद्भक्त' यानी मेरे प्रति समर्पित का महत्त्व बहुत बड़ा है। एक श्लोक में भक्ति के साथ अनन्यता भी जोड़ दी गयी है यानी भक्त तो होना ही चाहिए, अनन्य भक्त होना ज्यादा बड़ी बात है (११-५४) अध्याय १३ के श्लोक १० में तो इसी अनन्य भक्ति की अवधारणा को अनन्य संबंध बनाकर एकाग्र भक्ति तक पहुँचा दिया गया है। सम्पूर्ण समर्पण पर जोर देने वाली उक्त बातों के दायरे से अध्याय १२ का श्लोक १७ भक्ति को बाहर निकालता दिखाई देता है, जहाँ कहा जाता है कि ऐसा भक्त जो न खुश होत है न द्वेष करता है, न चिन्ता करता है न कुछ पाना चाहता है, शुभ-अशुभ से भी सरोकार नहीं रखता, वह मुझे प्रिय है। लेकिन सामान्यतः स्थितप्रज्ञ होने का महत्त्व बताया हुआ लगने वाला यह श्लोक एक दूसरा अर्थ भी देता है। उक्त श्लोक यह अर्थ भी देता है जो मेरा भक्त हो जाता है, वह अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व छोड़ देता है, भूल जाता है यानी अनन्य भक्ति ही व्यक्ति को ऐसा बना देती है। उक्त श्लोक के साथ अध्याय १८ का श्लोक ५५ भी देखा जाना चाहिए इस श्लोक में अर्थ का दूसरा विकल्प ही सामने आता है, जिसमें कहा गया है कि भक्ति द्वारा ही मुझे जाना जाता है-भक्त्या मामभिजानाति। निश्चय ही ब्रह्मसूत्रों या कुछ उपनिषदों की तुलना में यह एक अलग स्थापना है।

अंतिम अध्याय के ही श्लोक ६७ में इसी बात का और खुलासा हो जाता है-इदं ते नाभपस्कायक्ताय कदाचन न चाशुश्रूषये वारुचं न च माँ यो अरयसूयति यानि इस तत्त्व ज्ञान या गीता रहस्य को न तो तपहीन को बताना चाहिए और न भक्ति-रहित से कहना चाहिए उसे भी नहीं बताना चाहिए जो सुनना न चाहता हो और उसे भी नहीं जो मेरा निन्दक हो।

श्लोक ६८ कहता है- भक्ति मयि परां कृत्वा

माम एवैष्यति असंशयः यानी बिना संदेह किए हुए जो मुझमें अनन्य भक्ति करता है वह। जाहिर है यह वही आत्मसमर्पण है जो मनुष्य को स्वतंत्रचेता होने से रोकता है और उसे आज्ञाकारी बनाता है।

गीता में इसी श्रद्धा और भक्ति के प्रसंग में एक हैरानी की बात लिखी गई है। कथ्य यह है कि सच्ची भक्ति सात्विक भोजन से आती है। इसके साथ ही (अध्याय १७, श्लोक ९०) तामसी भोजन का बयान है- यातयामं गतरसं पूति पयुषितं च यत् उचिच्छष्टमपि चामध्यं भोजनं मातसप्रियम्। यानी सूखा, सड़ा, बासी, दुर्गन्धयुक्त, जूठा और अपवित्र भोजन तामसी पुरुष को प्रिय होता है।

उक्त भोजन क्या सचमुच किसी को प्रिय हो सकता है? क्या कोई स्वेच्छा से ऐसा भोजन करता है? निश्चय ही भारत में कुल आबादी के आधे लोग ऐसे हैं जो ऐसा ही खाना खाते हैं, सड़ा से सड़ा गंदा पानी पीते हैं, ऐसा पानी भी पीते हैं, जिसमें मरा जानवर सड़ रहा है। प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर का कुआँ' ऐसे ही पानी पीने वाले लोगों की दर्दनाक कहानी है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की किताब ऐसे ही लोगों की कहानी है जो जूठन बटोरकर जीवित रहते हैं। दलित आत्मकथा अकसरमाशी ऐसे ही वीभत्स खाने-पीने को मजबूर लोगों की कहानी कहती है। भारत के चमार जातीय लोग मरे जानवर का मांस खाने को मजबूर रहे हैं। यह अलग बात है कि गांधी की ही तरह प्रेमचंद भी उन्हें मरा जानवर न खाने की सलाह देते हैं गोकि वे यह नहीं बताते कि चर्मकार समुदाय यह खाने को मजबूर क्यों हुआ? क्यों मुसहर जाति के लोग गंधाते चूहे खाने को मजबूर होते रहे हैं?

इसी गीता में लिखा गया है (अध्याय ४, श्लोक १३४) चातुर्वर्ण्यं मयासुष्टं गुणकर्म विभागशः। इसी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को बनाने वाले लोगों ने यह व्यवस्थाएँ भी की थीं कि जिन्हें शूद्र बनाया जा रहा

है, वे क्या पहनें। आपस्तंब और गौतम से लेकर मुन तक की सामाजिक, धार्मिक व्यवस्थाएँ यह थीं कि शूद्र सवर्णों के उतारे कपड़े पहनें, चूहों द्वारा चीथड़ा किए वस्त्र स्वीकार करें, जूठा अनाज या जूठन खाएँ। जूठन खाना तामसी भोजन है और तामसी भोजन मनुष्य को परमज्ञान से वंचित रखता है।

इस दुर्भाग्यपूर्ण व्यवस्था का समर्थन गीता जैसी किताब करती है जो मनुष्य को ईश्वर तक ले जाने का रास्ता बताती है। वह मनुष्य आखिर है कौन? शंकराचार्य ने (अ.१८, श्लोक ४९) व्याख्या करते हुए 'ब्राह्मणक्षत्रिशां शूद्राणां' में यह बात खास तौर से साफ कर दी है कि शूद्र वेदों के अनाधिकारी हैं—शूद्राणामसमास करणमेक जातित्वे सति वेद अनाधिकारात्। आगे उन्होंने यह भी लिखा—शूद्र स्वभावस्य तमः यानी शूद्र का स्वभाव ही तामसी होता है। वह जूठन, सड़ा, बासी, दुर्गंधयुक्त खाएगा ही। गीता में यह अमानुषिकता भी मौजूद है जो दुनिया की किसी भी संस्कृति में देखने को नहीं मिलती।

एक और दुर्भाग्यपूर्ण सत्य गीता में मिलता है। स्त्री के लिए न यह पुस्तक है न भक्ति और श्रद्धा। एक जगह स्त्री, वैश्य और शूद्र के लिए एक अपमानजनक बयान जरूर मिलता है। (अ.९, श्लोक ३२)—मांहि पार्थ व्यपाश्रित्य ये अपि स्यु पाप योनयः। स्त्रियों वैश्याः तथा शूद्रःते अपि यांति परांगतिम्। यानी मेरे आश्रय में आकर पाप योनि वाले स्त्री, वैश्य और शूद्र भी तर जाते हैं। स्त्री, वैश्य और शूद्र की गणना पापयोनि के समान करके गीता किसी भी तत्त्वचिन्तक को चकित कर सकती है। स्त्री, वैश्य और शूद्र समुदायों के लिए इस बेहद बेइज्जती भरे गीता वाक्य के पीछे जो कुछ है, उसकी पड़ताल होनी चाहिए दरअसल गीता भी एक तरह की रामचरितमानस है। गीता में भी स्त्री और शूद्र का अपमान है और रामचरितमानस में भी और दोनों हिन्दू पुरुषों की लोकप्रियता भी मिली हुई है। गीता में स्त्री, वैश्य और शूद्र, जहाँ पापयोनि

कहे गए हैं, वहीं अगले श्लोक ३३ में ब्राह्मण पुण्यशील और क्षत्रिय भक्त कहा गया है। गीता में जहाँ अनन्य, अव्यभिचारिणी या एकाग्र भक्ति का जिक्र किया गया है वहीं (अध्याय १३, श्लोक ९) यह भी कहा गया है कि अनासक्ति कैसी हो। इसमें कहा गया है पुत्रदार गृहादिषु यानी पुत्र, पत्नी और घर से लगाव न हो। गीता ने कथ्य अगर थोड़े-से भी स्त्री के पक्ष में होते तो यह न कहा जाता कि पुरुष पुत्री-घर से असंपृक्त हो। कहा जाना चाहिए था कि परिजनों से अनासक्ति हो। आखिर गीता यह भी तो कह सकती थी कि भक्त-स्त्री, पुत्र, पति और घर से असंपृक्त हो और भक्त-पुरुष, पुत्र, स्त्री और घर से विरक्त। पर गीता का अभिप्रेत न तो मनुष्यमात्र है (शूद्र शामिल नहीं है) और न ही गीता स्त्री के पक्ष में है।

गीता महाभारत का ही एक हिस्सा है जिसे परिवर्धित संशोधित महाभारत की ही तरह परिवर्धित संशोधित किया गया। **यह काम निश्चय ही इसवी पहली सहस्राब्दि के पूर्वार्ध में किया गया होगा** जब ब्राह्मण अपनी अस्मिता के लिए चिन्तित था। इसीलिए स्त्री और शूद्र समाज के लिए गीता भी महाभारत की तरह ही अनुदार है। जहाँ कुछ ब्राह्मण धर्मशास्त्र शूद्र को कर्मों के कारण—उनके काम की वजह से नीच मानते हैं—गीता अपने कर्मयोग को शूद्र की चर्चा करते हुए पूरी तरह एक किनारे रख देती हैं यहाँ वह शूद्र के कर्म से हटकर स्वभाव की चर्चा करती है और यह स्थापित करती है कि शूद्र का स्वभाव ही शूद्रता होता है। यह कैसा कर्मयोग है?

गीता के अंतिम अध्याय—यह प्रसंग श्लोक ४९ से शुरु होता है—ब्राह्मण-क्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप। कर्मणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैगुणैः। यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को कर्मों में बांटा क्योंकि उनमें गुण स्वभाव से निर्धारित होते हैं। वर्णों का विभाजन अलग-अलग कामों के लिए किया गया और वे कौन-सा काम करेंगे, यह उनके स्वभाव के

अनुसार निर्धारित हुआ। शंकराचार्य ने इसके भाष्य में शूद्र को मूढ़ता से भी जोड़ा है। इसके साथ ही शंकर यह भी दुहरा देते हैं कि शूद्र ने पिछले जन्म में कुकर्म किए इसलिए इस जन्म में वह शूद्र हुआ-जन्मांतर-कृत संस्कारः। पिछले जन्म में बुरे कर्मों के कारण मनुष्य शूद्र बना पर शूद्र बनने के बाद शूद्र के लिए ऐसी कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी कि वह कोई बेहतर काम कर सके। **इसका सीधा अर्थ यह है कि शूद्र सारे ही जन्मों में शूद्र बना रहेगा।** तब जहाँ गीता कहती है-चातुर्वर्ण्य मया सृष्टम् वहाँ इस बयान का महत्त्व क्या रह जाता है? जो मनुष्य जन्म-जन्मांतर शूद्र ही रहेगा उसके वैसा रहने का कारण अज्ञात स्रष्टा कैसे हो सकता है? श्लोक ४४ में गीता में साफ कहा गया है-सेवा करना तो शूद्र का काम है, वही उसका स्वभाव है। उसके स्वभाव से ही उसका कर्म पैदा होता है।

जो किताब कर्मयोग के लिए विख्यात है उसमें मनुष्य समाज के बहुसंख्यक लोगों के कर्म स्वभाव से पैदा होते बताए गए हैं। स्वभाव परिवर्तनीय नहीं होता। गीता ही नहीं दूसरे ब्राह्मण ग्रंथ भी स्वभाव परिवर्तनीय नहीं मानते। अगर स्वभाव परिवर्तनीय होता है तो गीता इसी अध्याय में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के कर्मों को स्वभावज, स्वभाव से पैदा हुआ नहीं मानती। कृष्ण जब खुद कहते हैं-चातुर्वर्ण्य सृजाम्यहम् तो इसका सीधा अर्थ यही होता है कि वे इसी रूप में भारतीयों और गैर-भारतीय ब्राह्मणों का निर्माण करते हैं। हैरानी की बात है कि कृष्ण यह काम सिर्फ भारत में करते हैं, विश्व की भारत में कई गुना बड़ी जनसंख्या ज्यों की त्यों छोड़ देते हैं। या तो वह सारा समाज कृष्ण ने नहीं बनाया किसी और ने बनाया या फिर उस समाज को बनाया तो पर उन्होंने कृष्ण की बात नहीं मानी।

गीता में देहांतर की अवधारणा पर भी जोर दिया गया है। कहा गया है कि जीवात्मा एक देह छोड़कर

दूसरी देह में चला जाता है। (अ.२, श्लोक १३) में इस स्थिति को देहांतर प्राप्ति कहा गया है। यह किसकी इच्छा से होता है? जीवात्मा तो इसका चुनाव नहीं कर सकती, पर क्या परमात्मा इसका फैसला करता है? वह करता है तो किस आधार पर? इसके उत्तर में ब्राह्मण विचारक कर्मफल करता है? वह करता है तो किस आधार पर? इसके उत्तर में ब्राह्मण विचारक कर्मफल का आविष्कार करता है। यह देहांतर कर्मफल के कारण होता है। इसमें भी एक और बात जोड़ी गई है- (अ.१४, श्लोक.१४-१७) **जब कोई सद्गुणी होता है तो स्वर्ग पाता है, रजोगुणी दुख पाता है और तमोगुणी अज्ञानी होता है। सवाल यह उठता है कि परमात्मा के द्वारा जन्म दिए जाने के बाद सत्, रज और तम गुण कहाँ से आ जाते हैं? और जब नया शरीर इन गुणों से युक्त होता है तब कर्म की क्या भूमिका होती है जब गुणों से मनुष्य के कर्म निर्धारित होते हैं तो कर्मफल का क्या अर्थ हो सकता है?**

इस सारे गुण ओर कर्म की परिकल्पना में एक अपवाद अद्भुत है। गीता की लगभग सारी ही बुनियादी स्थापनाओं के साथ इस अपवाद का अंतर्विरोध है। अध्याय १७, श्लोक २३ है-ओम् तत्सदिति निर्देशो ब्राह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा। अर्थात् औम, तत्, सत् यह तीन ब्रह्म की संज्ञाएँ हैं। ब्राह्मण, वेद और या आदिकाल में उसी से उत्पन्न हुए।

जहाँ गीता में कहा गया है चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं-चार वर्ण मैंने ही बनाए और वे भी गुण-कर्म के अनुसार फिर ब्राह्मण सृष्टि के आदि में क्यों ब्राह्मण बन गया? उसके ब्राह्मण होने के स्वभाव, गुण, कर्म अप्रासंगिक कैसे हो गस? ब्राह्मण को सृष्टि के आदि में रचते वक्त कर्मफल की क्या स्थिति थी?

एक और सवाल भी यहीं पैदा होता है। अध्याय २ के श्लोक ४५ में कहा गया है कि वेद त्रिगुणात्मक, संसारी लेखन है, तुम त्रिगुणात्मकता छोड़ो।

त्रिगुणात्मकता छोड़ने का अर्थ वेद छोड़ना हुआ और ऐसी स्थिति में वेदों की सृष्टि के आदि में बनाना क्यों जरूरी था ?

भक्ति योग के निहितार्थ :

हम अब गीता की एक और बड़ी स्थापना भक्ति पर विचार करेंगे। श्रद्धा की कुछ चर्चा हमने पहले की थी और यह देखने की कोशिश की थी कि श्रद्धा और भक्ति के लक्ष्य समान होते हैं। फिर भी भक्ति शब्द का अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

भागवत पुराण का महात्म्य भाग देखने वाला है। इस प्रारम्भिक अंश के शुरु में ही एक कथा आई है। कथा शीर्षक है-देवर्षि नारद की भक्ति से भेंट। यह भेंट ब्रज भूमि में होती है। ध्यान रहे ब्राह्मणों के भारत आने तक ब्रज-क्षेत्र भी भारतीय कुलीनों, शिल्पियों, कृषकों का ही था। यहीं नारद भक्ति नाम की स्त्री को बैठी देखते हैं। उसके पास दो वृद्ध अचेत पड़े थे। वह स्त्री नारद को अपनी कथा सुनाती है- “मेरा नाम भक्ति है। ज्ञान और वैराग्य नामक ये मेरे पुत्र हैं। मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई। कर्नाटक में बड़ी हुई। महाराष्ट्र में मेरा जन्म हुआ। गुजरात में मैं बूढ़ी हो गई। पाखण्डियों ने मेरी दुर्दशा कर डाली। वृंदावन आकर मैं फिर नवयुवती हो गई पर मेरे पुत्र अभी वैसे ही हैं।”

भक्ति मार्गी परम्परा के लिए भागवत वाल्मीकि रामायण से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इसलिए शुरु में ही भक्ति का प्रतीक उठाया गया है। इस प्रतीकात्मक कथा के अनुसार भक्ति का जन्म द्रविड़ क्षेत्र में हुआ। भक्ति आंदोलन आगे कर्नाटक, महाराष्ट्र और गुजरात होता हुआ वृंदावन आया।

यहाँ हम एक ऐतिहासिक घटना का भी उल्लेख करना चाहेंगे। ईसवी सन् ५२ के आसपास ईसाई उपदेशक संत थामस दक्षिण भारत के मलाबार आए। वहाँ से लेकर चेन्नई के इलाके तक उन्होंने ईसाइयत का प्रचार भी किया और चर्च भी बनवाएँ ईसा की यह पहली शताब्दी और इससे पूर्व का काल ब्राह्मण और

आर्य परम्परा और विचारों के बीच तीखे टकराव का समय भी था। ध्यान रहे ईसाई धर्म के ईसा से जुड़े इतिहास का बहुत शुरुआती दौर था। ईसा की हत्या के कुछ ही बरसों बाद आए संत थामस के साथ जो धर्म तंत्र मलाबार आया होगा, वह बिल्कुल संगठित नहीं रहा होगा। उसका कर्मकांड भी सिर्फ वही हो सकता था जो संत थामस कर सकते होंगे। उन्होंने चर्च स्थापित किए थे वे आज भी मूल ईसायत से काफी अलग दिखते हैं और उन्हें सीरियाई चर्च कहा जाता है।

इन सीरियाई चर्चों को बहुत बाद में पोप की अधीनता में लाने की कोशिश हुई थी, पर सीरियाई चर्चों के उपदेशक राजी नहीं हुए। वे अपना संबंध बेबीलोन की ईसाइयत से बनाए रखना चाहते थे। बाद में खुद बेबीलोनियाई ईसाइयत इस्लामी दबाव में सिमटकर रह गई, तब भारत के ये सीरियाई चर्च लगभग पूर्ण स्वायत्तता में चलते रहे। इस स्थिति में परिवर्तन के लिए अंग्रेजी चर्च बराबर प्रयत्नशील रहे पर सीरियाई चर्च का एक रुढ़िवादी हिस्सा और ज्यादा अलग चरित्र की ईसाइयत अमल में लाता रहा।

द्रविड़ क्षेत्र में पहली सदी से ही ईसाइयत की स्थापना के इस इतिहास का एक तथ्य हम ऊपर के उस प्रसंग के संदर्भ में देखना चाहेंगे जिसमें भक्ति कहती है- मेरा जन्म द्रविड़ प्रदेश में हुआ। एक संदर्भ हम १९४२ में मद्रास (वर्तमान चेन्नई) में छपी किताब ‘दि हेरिटेज ऑफ इंडियन क्रिश्चियन’ से देना चाहेंगे। इस पुस्तक पर लेखक का नाम नहीं है। लेखक की जगह छपा है-भारत के चर्च के एक सदस्य द्वारा। पुस्तक में दक्षिण भारत के इस प्रारम्भिक ईसाई अभियान का जिक्र करते हुए लिखा गया है, “अनेक सुबूत ऐसे हैं कि उस समय दक्षिण भारत में ईसाइयत से लोग काफी बड़े क्षेत्र में परिचित थे। इसी समय के बाद भारत में एक बड़े भक्ति धर्म का अभ्युदय हुआ था।”

जहाँ भागवत में भक्ति कहती है कि वह द्रविड़ देश में पैदा हुई, वहाँ ईसाइयत के इतिहासकार का यह

कथन उसी की पुष्टि करता है कि ईसाइयत के प्रभाव से भक्ति आंदोलन का द्रविड़ क्षेत्र में जन्म हुआ।

दरअसल ब्राह्मण जिस अस्तित्व के वैचारिक संकट से जूझ रहा था, उससे निकलने का सबसे आसान रास्ता उसके पास भक्ति आंदोलन ही था। लेकिन भक्ति-भावना इतनी नई नहीं है। मूलतः भक्ति का अर्थ तो अलगाव है, पर यह देवता से लगाव की समानार्थक क्यों बनी, यह प्रश्न अलग है। ईसा पूर्व की सहस्राब्दि में विविध देवताओं के प्रति पूजा भाव को भक्ति कहा जाता था। पर यह शब्द जिस अर्थ अर्थ में ईसा के बाद की शताब्दियों में भारत में इस्तेमाल हुआ, खासकर दूसरी सहस्राब्दि में लोकप्रिय हुआ यह बड़े पैमाने पर विष्णु और उसके अवतार की भक्ति का आंदोलन था। इस आंदोलन ने ब्राह्मण के सारे उद्देश्य पूरे कर दिए। ब्राह्मण को अब वैचारिक संघर्ष की जरूरत नहीं रही। बड़े यज्ञों की अनिवार्यता भी समाप्त हो गई। उनसे मिलने वाले लाभ के दूसरे रास्ते खुल गए जैसे विशाल मंदिर, तीर्थ, बड़े-छोटे पर्व, जन्म से लेकर मृत्यु और उसके संस्कार ब्राह्मण की स्थायी आमदनी का जरिया हो गए। पहली सहस्राब्दि समाप्त होते-होते देश में भारी उलटफेर हो गए। राज्य शासक ऐसी स्थिति में नहीं रहे कि वे बड़े यज्ञ करा सकते। दूसरी सहस्राब्दि में तो इस्लाम के फैल जाने पर ये सुविधाएँ और कम हो गई। अधिकांश हिंदू राजा एक-दूसरे से युद्धों में फँसे रहे।

इस काल के वैष्णव भक्ति आंदोलन की प्रेरणा के पीछे अनेक कारणों में से एक ईसाइयत भी रही हो सकती है। भक्ति आंदोलन कई दृष्टियों से पहले की ब्राह्मण परम्परा से काफी अलग था। एक तो इसमें पुरोहित की भूमिका बहुत नगण्य हो गई। वह अधिकांशतः कथावाचक उपदेशक में तब्दील हो गया। पुरोहित या बुद्धिजीवी तो ब्राह्मण व्यवस्था में सिर्फ ब्राह्मण ही हो सकता था, पर भक्त होने के लिए यह जरूरी नहीं था। यही वजह है कि ब्राह्मणों का प्रीणाव

बहुत तेजी से भारतीय आर्यों से ज्यादा अनार्यों पर पड़ा। ब्राह्मण तंत्र ने बड़ी सिद्धत से पिछली सहस्राब्दियों में अनार्यों (शिल्पी, कामगार, कृषक) को धार्मिक, सांस्कृतिक अधिकारों से वंचित रखा था। भक्ति का रास्ता ब्राह्मणों की रोक-टोक से बंद होने वाला नहीं था। इसीलिए भक्ति आंदोलन इसी वर्ग में बहुत तेजी से फैला। ग्यारहवीं सदी के रामानुजाचार्य और उनके बाद हुए रामानंद ने तो प्रयत्नपूर्वक इस आंदोलन में शिल्पी समुदाय ही नहीं मुसलमानों तक को शामिल किया ब्राह्मण के लिए यह घटना अच्छी नहीं थी, पर उसके धर्मतंत्र को इससे विस्तार मिल रहा था। यह कोई छोटी बात नहीं थी कि रसखान जैसे लोग भी भक्ति आंदोलन में शामिल होकर अंततः ब्राह्मण प्रतिष्ठा बढ़ा रहे थे।

यह देखना दिलचस्प है कि गीता ने बहुत पहले भक्ति की इस उपादेयता को समझ लिया था। इसलिए वेद और यज्ञ के तिरस्कार की कीमत पर भी गीता में (अ.११, श्लो.५३,५४) स्पष्ट कहा गया-नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया अर्थात् न वेदों से, न तप से न दान से, न यज्ञ से- भक्तया तु अनन्यया शक्य अहमेवं विद्याः ज्ञातुं द्रष्टुम्-अनन्य भक्ति से मुझे जाना और देखा जा सका है।

भक्ति-दर्शन में एक चतुर युक्ति भी थी। भक्ति करने वाला कोई व्यक्ति कहे कि अनन्य भक्ति के बावजूद आराध्य दिखाई नहीं दिया तो एक विश्वसनीय उत्तर उपलब्ध था-आत्मा स्वच्छ नहीं होगी, कोई अनजाना पाप बाधा बन रहा होगा या फिर भक्ति में ही कोई अज्ञात खोट होगी। भक्त के पास यह साबित करने को कोई उपाय नहीं होता कि मन निष्कलुष है, आत्मा पवित्र है, भक्ति पूर्णतः सच्ची है और कोई भी जाना अनजाना पाप नहीं हुआ है यानी सम्भव है कोई चींटी ही पैर से कुचल गई है। कौन विश्वास से कह सकता है कि चींटी भी नहीं मरी होगी। भक्ति के साथ एक गुत्थी भी जोड़ी गई। अध्याय १८ के श्लोक ५५

में भक्त द्वारा उपास्य का जानना तत्त्वज्ञान से होता है। तत्त्वज्ञान का भक्ति, आस्था और श्रद्धा से कोई संबंध नहीं होता, पर यहाँ वह भी भक्ति की सफलता की एक शर्त के रूप में मौजूद है।

गीता की शुरुआत कर्मयोग और ज्ञानयोग से होती है, पर अंत तक आते-आते कहा जाता है (अध्याय १२, श्लोक १७) यो न दृश्यति ने द्वेषि न शोचति न कांक्षति शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः। खुशी, गम, शुभ-अशुभ, इच्छा-अनिच्छा से मुक्तावस्था की जो शर्त भक्ति के लिए जरूरी बताई गई है वह बौद्ध विचार है, ब्राह्मण परम्परा का चिन्तन नहीं है। गीता पर यह भी बौद्ध चिन्तन का ही प्रभाव है कि कई जगह ज्ञान की प्रतिष्ठा की गई है। श्रेयात् द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञान यज्ञः (अध्याय ४, श्लोक ३३) भौतिक सुखवाले या से ज्ञान यज्ञ बेहतर होता है यह ज्ञान क्या है? वस्तुतः यह ज्ञान दार्शनिक अवधारणा न होकर विश्वास या आस्थामात्र है।

गीता में भक्ति प्रसंग को छोड़ दें तो सबसे बड़ी जगह कर्म की अवधारणा घेरती है। इसे ही कर्मयोग के रूप में ख्याति मिली है। यह भी सच है कि इसी अवधारणा से जुड़े गीता के अंश सर्वाधिक काव्यमय भी हैं। पर क्या उन अंशों का काव्यगुण ही गीता रहस्य है? या फिर कर्म में ही कोई दार्शनिक गुत्थी निहित है।

कर्मयोग के बयान की शुरुआत होती है (अध्याय २, श्लो.४७) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन-तुम्हारा कर्तव्य कर्म करना है, फल की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, कर्म अधिकार है, फल अधिकार नहीं है। हमने ऊपर देखा कि कई जगह स्वर्ग या सुख-समृद्धि भी कर्म का लक्ष्य गीता में माना है। परलोक भी माना है। और परमपद प्राप्ति क्या फल ही नहीं है? बल्कि अगले श्लोक में तो उक्त श्लोक से स्पष्ट अंतर्विरोध है- योगस्थः कुरुकर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय सिद्ध असिद्धयोः समो भूत्वा समत्व योग उच्यते। (श्लो.४८, अध्याय २) यानी योग में स्थित होकर कर्म

करो, संलग्नता छोड़ा, सिद्ध हो या न हो एक जैसे ही रहो, यही समत्व योग है। समत्व योग आगे कई जगह वर्णित है। समत्व योग का मतलब है लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुख से निस्संगता। पर सिद्ध और असिद्धि से भी अगर कोई असंपृक्त होता है, वह केवल यंत्र हो सकता है कर्म केवल सक्रियतामात्र तो नहीं हो सकता। कौशल, पराक्रम, लक्ष्यान्वेषण और एकाग्रता भी तो कर्म के अनिवार्य तत्त्व होते हैं अन्यथा कर्म-कुर्म भी हो सकता है, बेशकरी भी हो सकता है। कर्म का शऊर होना जरूरी होगा। जब कर्म शऊर के साथ किया जाएगा तभी वह अपने को कर्म सिद्ध कर सकेगा। दरअसल यह अंतर्विरोध काव्यात्मकता के मोह से पैदा हुआ है।

मूल कथ्य और कई दूसरी अवधारणाओं के बीच अंतर्विरोध गीता में कई जगह हैं। मसलन (अध्याय, ८, श्लो.३) भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः यानी होम और यज्ञ में जो दान दिया जाता है, वह कर्म कहा जाता है। द्रव्यों के दान करने को कर्म कहते हैं, यही अर्थ शंकराचार्य ने भी किया है पर शंकर ने इस दान के साथ यज्ञ क्रिया को जोड़कर बात और उलझा दी। यज्ञ एक ऐसी प्रक्रिया है जो फल निरपेक्ष हो ही नहीं सकती। पितृ यज्ञ फल निरपेक्ष कैसे हो सकते हैं। अधिकांश महत्त्वपूर्ण यज्ञ परिणाम या फल सापेक्ष ही होते हैं। मनुष्य यज्ञ का फल अतिथि संतोष होगा। वह फलरहित हो तो अयज्ञ होकर ही हो सकता है। अधिकांश यज्ञ फल परिणामी होते हैं। वे किए ही इसीलिए जाते हैं कि एक निश्चित उद्देश्य पूरा हो। अनेक बड़े यज्ञों का एक स्पष्ट विधान है। अगर बीच में उसमें व्यवधान आ गया तो वह सम्पूर्ण निरर्थक हो जाता है कायदे से अगर परिणाम की चिन्ता छोड़ दी जाए तो यज्ञ सम्भव ही नहीं हो सकता। वृष्टि यज्ञ पानी बरसाने के लिए किया जाता है। वह इस परिणाम या फल की उपेक्षा तो नहीं कर सकता। अश्वमेध का फल दिग्विजय होना ही होता है। कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन का अश्वमेध में क्या अर्थ है?

मानव जाति का प्रथम धर्म – मरहाटा या मराठी धर्म – २०,००० साल पूर्व से शिवाजी के समय तक।

कुछ दिन पहले हमने डॉ.आ.ह.साळुंखे लिखित 'शिवधर्म गाथा' इस ग्रंथ में कुछ त्रुटियाँ बताकर एक लेख मित्र परिवार को भेजा था। उसमें हमने ऐसा 'सिद्धान्त' प्रस्तुत किया था कि मानव जाति का प्रथम धर्म शिव धर्म से भी पुराना है। उस समय मानव जाति नागपुर-मनसर इलाके में विकसित होकर इस इलाके से बहिर्गमन करने के तय्यारी में थी। यह प्रक्रिया महाप्रलय के पूर्व ही माने आखरी हिमयुग समाप्त होने के बाद (अ.५०,००० वर्ष पूर्व) शुरु हुई थी। उस समय वातावरण गरम होकर बर्फ पिघलने से पूरे पृथ्वीपर समुद्रों का जलस्तर बढ़ा और उससे प्रलय जैसे स्थिति पैदा हुई थी। इस कारण नागपुर-मनसर का मनुष्य प्राणी ब्राह्मणों के ग्रंथों में वर्णित 'होमोसेपियन' मानव से काफी पुराना है। ब्राह्मणी ग्रंथों में 'होमोसेपियन' नाम के प्रजाती को 'मानव' इसलिए कहा की उस प्राणी के दस (१०) अवतारों में से प्रथम अवतार 'मीन' नाम का जलचर था और उन ग्रंथों के अनुसार प्राणी जगत की उत्पत्ती समुद्र के जल से हुई है। उसी 'मानव' शब्द से अंग्रेजी का Man शब्द भी उत्पन्न हुआ है।

नागपुर-मनसर के प्रथम 'होमोसेपियन' ने स्वयं को 'मरहटी' या 'मन्हाटी' नाम से ही संबोधित किया होगा, देढ लाख साल पहले जब किसी ने उसको उसका नाम पुछा होगा। इसका कारण यह था कि जब वह पंजाब-सिंध-राजस्थान के प्रदेश में सिंधू सभ्यता का सृजन कर रहा था उस वक्त उसके भाषा का नाम 'मरहटी' था। मरहटी < मालहाटी। उसी भाषा को पु.श्री.सदार ने सिंधू टिकियों पर (seal) पढ़ा है।

मानव जाति के पितामाता नागपुर-मनसर के मरहटी

-पु.श्री.सदार

सिंधु लिपि के प्रथम वाचक
७१, कोतवाल नगर, नागपुर-४४००२२
मो. ९७६३७९५६०२

थे। परंतु उनसे उत्पन्न हुए ब्राह्मणों ने स्वप्रजाती का नाम अलग करके उसे 'मीन' से निर्मित (मत्स्य से) हुआ ऐसा बताकर 'मानव' रखा। अन्यथा 'मानव' शब्द की संस्कृत, ग्रीक, लैटीन, हिब्रू या अन्य विदेशी भाषाओं में कोई अलग सी व्युत्पत्ती नहीं है। उसी कारण मूल 'मरहटी' या 'मन्हाटी' नाम के 'होमोसेपियन' का नामकरण ब्राह्मण-हिब्रू काल में मानव, मॅन, अँडम, आदमी ऐसा हुआ है।

मानव प्रजाति का मूल नाम, २०,००० साल पूर्व और उससे क्रोमॅन नामक बुद्धिवान मानव विकसित हुआ फिर भी, 'मन्हाटी' ही रहा है। वैसा होने से उसका आचरण धर्म भी 'मन्हाटा धर्म' या 'मराठा धर्म' नाम से ही जाना जाता रहा था। इस धर्म का स्वरूप, शिव-शंकर के पूर्व काल में, एक विशिष्ट प्रकार के उत्सव-त्यौहार, देवक (Totem=कुलचिन्ह) और निसर्ग पूजा ऐसा ही रहा था। २०,००० साल पूर्व से लेकर छत्रपति शिवाजी महाराज के समय तक इस आचार धर्म में केवल शिव लिंग पूजा, मूर्तिपूजा और पाषाण पूजा ही जोड़ दी गई है। इस धर्म का कोई चिंतन से प्राप्त तत्वज्ञान नहीं था। वह तो होमोसेपियन मानव को मिला पहली बार शिव-शंकर के ध्यान साधना के माध्यम से। उसका काल था सिंधू सभ्यता का परमोच्च काल माने ईसपू. ८००० से ६००० साल।

भौतिक विज्ञान की एक ऐसी पद्धती है कि प्रथम सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाय और पिछे उसके प्रमाण

खोजकर 'सिद्धान्त' का नियम (Law) बनाया जाय। हमने मरहटी प्रजाति (Homosapien) और उनका मरहटी या मराठी धर्म ही मानव प्रजाति का 'प्रथम धर्म' है यह सिद्धान्त घोषित करते ही दूसरे ही दिन हमारे हाथ उसके पक्ष में कई सबूत लग गए हैं। 'मिडीया वॉच' नाम की एक अनियतकालिक पत्रिका का दिवाली अंक २०१४ हमारे मित्र ने भेजा था। उसमें दत्ताप्रसाद दाभोळकर नाम के एक ब्राह्मण लेखक ने एक लेख प्रस्तुत किया है। उसमें वे सबूत मिले। उसके पहले भी जेम्स लेन नाम के एक 'जिजाऊ विरोधी' अमेरिकन लेखक ने उसके पुस्तक में कहा है कि महाराष्ट्र यह बहुत प्राचीन राष्ट्र है और **मराठे महाप्रलय के पूर्व कई शतकों से सार्वभौम सत्ता के उपभोग कर्ता थे।** यह बात जेम्स लेन ने इंग्लिश इतिहासकार ओर्मे का ग्रंथ 'हिस्टॉरिकल फ्रॅगमेन्ट्स' के आधार से कही है। ओर्मे खुद इराणी इतिहासकार फेरिस्ता या फेरितशहा के हवाले से वहीं बात कहता है। ओर्मे इस्ट इंडिया कंपनी का सन १८६५ में अधिकारी था। उसी प्रकार काशिम फेरितशहा आदिलशहा के तथा औरंगजेब के दरबार में दरबारी इतिहासकार था। फेरितशहा का पूरा नाम था फेरितशहा **महंमद काशीम हिंदू शहा (१५६०-१६२०)।**

(१) जेम्स लेन उसके ग्रंथ 'Shivaji-Hindu King in Islamic India' में कहता है कि 'महाराष्ट्र' यह बहुत प्राचीन नाम है। इस संबंध में हमारा कहना यह है कि जेम्स लेन की बात अधुरी है। वास्तव में 'महाराष्ट्र' यह नाम पूरे भारतवर्ष का था, ई.स.पू.८००० से ६००० के समय में। अन्यथा एक क्षेत्रीय इलाके का नाम 'महाराष्ट्र' क्यों रखा जाएगा? सच में उस काल में 'महाराष्ट्र' यह शब्द महारट्ट या मन्हाट था। आर्यों ने उसका संस्कृतकरण किया और बनाया 'महाराष्ट्र' (देखे भांडारकर आर.जी. का कथन पान ३०२,

क्षत्रियांचा इतिहास-काशिराव बापु देशमुख।) महारट्ट यह शब्द बौद्ध साहित्य में पाया जाता है। उसी प्रकार मन्हाट यह नाम विदर्भ के प्राचीन नाम 'वन्हाड' से मेल खाता है। सम्राट बली का पोता 'मराट्ट' नाम का था। बौद्ध वाङ्मय में महारट्ट इस नाम का उल्लेख ई.स.पू. ४०० का है। परंतु उस वक्त यह नाम एक प्रांत को या आजके मराठी राज्य को दिया हुआ था। आखिर में, शिवाजी महाराज के समय, ब्राह्मण रामदास स्वामी ने मराठी प्रदेश को महाराष्ट्र और 'मराठा' धर्म को महाराष्ट्र धर्म कहा था। सिंधू सभ्यता के समय राजकाज, व्यापार व जनता की भाषा 'मरहटी' थी। उससे मरहटी बोलने वालों का नाम मन्हाटी और उनके भूभाग का नाम 'मन्हाट' प्रचलित हुआ। उसीसे बना महारट्ट, बौद्ध काल में और महारट्ट से आर्यों ने बनाया महाराष्ट्र। मन्हाटी लोगों का धर्म बना 'मन्हाटी धर्म' ओर आगे बना मराठी धर्म। मराठी धर्म से बना 'मराठा धर्म' शिवाजी का समय आते आते।

(२) इराणी इतिहासकार फेरिस्ता उसका ग्रंथ 'हिस्टोरी ऑफ डेक्कन' में कहता है, "मराठों उनका राष्ट्र ५००० वर्ष पुराना बताते हैं तथा दुनिया के अन्य प्रदेशों पर उनका सार्वभौमत्व का काल 'महाप्रलय' के पहले कई शतक बताते हैं (देखे जेम्स लेन के Historical Fragments ग्रंथ के नोट्स पान ५०)। महाप्रलय आखरी हिमयुग के समाप्ती के बाद (आज से ५०००० साल पूर्व) हुआ था। उसका जिक्र हिब्रू का बायबल, ख्रिश्चनों का बायबल, कुराण और हिंदूओं के पुराण इन सभी में आता है। इसका अर्थ हुआ मराठे या मराठी लोग नागपूर-मनसर प्रदेश से फैलकर पूरे भारत में ५०,००० साल पहले ही पहुंच गए थे। तभी उनका सार्वभौम राज्य महाप्रलय के पूर्व शक्य है"

(३) इसी संदर्भ में अँड. अनंत दारवटकर, पुणे उनके ग्रंथ 'रिप्लाय टू जेम्स लेन' में कहते हैं कि, "It

shows that the Marathas or the Maharashtrian people had a bright history of at least about 3000 to 4500 years minimum and 9000 years maximum if the period of the Indus civilization is included therein.”

(४) प्रा.आर.ए.कदम उनके ग्रंथ ‘भारतीय राजवंश-एक सत्य संशोधन’ में मराठों के राज्यसत्ता का काल इस प्रकार से बताते हैं: सातवाहन मराठा राजाओं का काल ५०० वर्ष, वाकाटक मराठे ३०० वर्ष, राष्ट्रकूट मराठे ५०० वर्ष, माणीक मराठे २०० वर्ष, शिलाहार मराठे ४०० वर्ष, चालुक्य मराठे ७०० वर्ष (चालुक्यों को कै.काशिरावबापू देशमुख, सत्यशोधक अमरावती, ‘शाक्य’ भी कहते हैं-देखे क्षत्रियों का इतिहास) कदंब मराठे १००० वर्ष, पल्लव मराठे ६०० वर्ष, यादव मराठे (देवगिरी के, जिजाऊ का मायका) ३०० वर्ष; कुल ४५०० वर्ष। इसका आधा २२५० वर्ष, यदि दो राजसत्ताओं का एक साथ होना खयाल में लिया तो। सिंधू सभ्यता के काल में तो सभी मानवजाति मराठी ही थी और भारत के बारे में तो थोड़ा भी संदेह नहीं, इस बाबत, क्योंकि सिंधू टिकियों की लिखाई की भाषा मरहटी थी यह बात निःसंदेह सिद्ध हो चुकी है। इस प्रकार से ई.स.पू. ४५०० वर्ष सिंधू सभ्यता का काल इसमें जोड़ देने से कुल मराठा राजसत्ता का काल २२५०+४५०० = ६७५० वर्ष होता है। **मराठों के संबंध में पिछले सदी के सत्यशोधक काशिरावबापु देशमुख उनके ‘क्षत्रियांचा इतिहास’ इस ग्रंथ में कहते हैं कि गौतम बुद्ध मराठा थे। देखे पृ. ३०२।**

(५) मराठा शब्द के बारे में ब्राह्मणों ने जानबुझकर संभ्रम पैदा कर रखा है। ब्राह्मण रामदास स्वामी ने एक पत्र में छत्रपति शिवाजी महाराज को कहा है, “या

भूमंडळाचे ठायी। धर्म रक्षी असा नाही। महाराष्ट्र धर्म राहिला काही। तुम्हा कारणे।।१०।।” शिवाजी महाराज के काल में महाराष्ट्र में ‘हिंदू’ नाम का कोई धर्म नहीं था। यदि वैसा होता तो रामदास स्वामी उसी शब्द का प्रयोग करते; महाराष्ट्र धर्म नहीं कहते। परंतु रामदास स्वामी को मराठों की और भारतियों की अस्मिता निकालकर रखना था। इसलिए ही उन्होंने ‘मराठी धर्म’ का ‘महाराष्ट्र धर्म’ ऐसा रूप बनाया। और अचरज की बात यह है कि शिवाजी के समय में या उसके बाद कोई मराठा बुद्धिजीवी ने उसका विरोध नहीं किया। परंतु इस ‘महाराष्ट्र धर्म’ शब्द के प्रयोग से एक बात सिद्ध होती है कि शिवाजी महाराज के समय में महाराष्ट्र में मराठों का धर्म ‘मराठा धर्म’ ही था। उसमें आत्मज्ञान के सूत्र भले ही ना हो परंतु आचरण धर्म या कर्मकांड की सभी रस्मों का कड़ाई से पालन किया जाता था। इसके अलावा मराठों की देवताएँ और देवक (कुलचिन्ह) ब्राह्मणों से बिलकूल अलग थे। इस दृष्टी से देखा जाए तो सन २००५ में महाराष्ट्र में पुनर्जिवित ‘शिवधर्म’ भी शुद्ध कर्मकांड ही है; भले ही वह थोड़ा ज्यादा परिष्कृत, ज्यादा विज्ञानवादी और ज्यादा लचीला हो।

(६) एक इतिहासकार, ब्राह्मण वि.का.राजवाडे धर्म के संबंध में कहते हैं कि, “नागवंशीय महाराष्ट्री मराठे नादान क्षत्रिय (क्षत्रीय) है। वे किसी भी साळूमाळू की मूर्ति बनाकर उसकी उपासना करते हैं। ... शिवाजी भोसले, मोरे, शिर्के, जाधवादि घराने शुद्ध क्षत्रिय हैं। पाटील, देशमुख माने कम अस्सल क्षत्रिय।” यहां पर राजवाडे ने कबूल ही किया है कि मराठे ब्राह्मणी धर्म का पालन न करते हुए उनकी देव देवतायें भी अलग होती थी। इसी ‘अलग’ धर्म का नाम ‘मराठा धर्म’ था। रामदास स्वामी ने इसी धर्म को ‘महाराष्ट्र धर्म’ कहकर मराठों की अस्मिता लुटी है। हमने ‘मराठा

धर्म' की उपर व्याख्या करके यह कहा है कि वह धर्म ई.स.पू. ४५०० के समय में भी मौजूद था।

(७) ई.स.पू. ४५०० के काल में और शिवाजी के समय में भी जो था वह 'मराठी धर्म' या मराठी धर्म या **'मराठा धर्म' आज के ब्राह्मण और आज के ज्यू के पूर्वजों का भी धर्म था।** आज ब्राह्मण और ज्यू लोगों ने स्वतंत्र धर्म स्थापन किए हैं। उस समय 'मन्हाटी धर्म' में पूरी मानव प्रजाति समाविष्ट थी। मानव का नाम ही उस समय 'मराठी' था। उसका सबूत आज भी उपलब्ध है। ग्रीस देश के मुख्य भूमि से भूमध्य समुद्र में स्थित क्रिट नाम के द्वीप जाते समय एक 'मराठी' (Marathi) नाम का दूसरा द्वीप लगता है। वह भी ग्रीक के मालकियत का है। मराठी या मराथी शब्द का ग्रीक भाषा में कोई अर्थ नहीं है। वह द्वीप क्रिट द्वीप पर जो सिंधू सभ्यता का राजा 'मिनॉस' था उसके अधिकार में होने से उसका नाम 'मराठी' रखा होगा। इस बात की पुष्टि विदर्भ के लेखक कै. विजय मेटकर उनकी किताब 'सूरासूर संग्राम' में करते हैं। (देखें www.soorasoorsangram.com)

(८) महाराष्ट्र में, दिनकरराव जवळकर ब्राह्मणोत्तर आंदोलन के एक अत्यंत प्रभावी लेखक तथा वक्ता थे। उन्होंने सन १९२५ में श्री. शिवाजी मराठा मिशन की स्थापना की थी। उसमें उस समय के अस्पृश्यों को भी प्रवेश लेने का आवाहन किया था। इसका अर्थ यह हुआ कि उस समय में मराठा, महार, मातंग आदि जातियों का धर्म मराठा धर्म ही रहा होगा और यह भी कि पूरा समाज धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से एक था। **वास्तव में मराठी समाज में और पूरे भारतीय समाज में अलगाववाद के बीज ब्राह्मण धर्म ने ही बोए हैं।**

उपरोक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होगा कि आज

से २०,००० साल पूर्व में जब 'होमोसेपियन' नाम के 'मराठी प्रजाति' को धार्मिक भावनाएं व्यक्त करने की उमंग आई होगी अर्थात् इस पूरी सृष्टि की ओर कृतज्ञता से, ममता से, आश्चर्य से देखने की प्रबल इच्छा हुई होगी तब से छत्रपति शिवाजी महाराज के मराठा समाज के समय तक (सन १७०० तक) इस 'मन्हाट' (भारत) देश में और पूरे पृथ्वी पर भी 'मन्हाटी धर्म' का पालन किसी ना किसी रूप में होता रहा है। यही धर्म दुनियाभर के धर्मों का जैसे: शिव धर्म, जैन धर्म, बौद्धधर्म, लोकायत धर्म, शाक्य धर्म, महानुभव धर्म, हिब्रू धर्म, इसाई धर्म और इस्लाम धर्म इन सबका एक समानांतर धर्म करके पलता रहा है। वह पूरे **महाराष्ट्र** और भारत में भी पलता फुलता रहा।

इस प्रकार का बेनाम धर्म अभी भी (२१ वी सदी में) हमारे उच्चशिक्षित मित्र व्ही.पी.देशमुख, नागपुर ग्रामदेवता 'शेंद्रया' देव की पूजा करके मनाते हैं। दिवाली के एक दिन पूर्व जब 'जवार' की फसल किसान के घर आती है तब ग्राम भोजन, पूजा व प्रसाद का आयोजन होता है। केवल जवार के पकवान बनाकर और उनको मिलाकर सबको 'प्रसाद' के रूप में देते हैं। जिन देवताओं की पूजा होती है उनका नाम किसीको मालूम नहीं। यह कोई प्रचलित धर्म की रस्म नहीं है। इस पूजा में तीन पुरुष देवता और पांच स्त्री देवता होती हैं। प्रतीक स्वरूप प्रत्येक देवता के लिए बिडे के पान पर एक सुपारी रखते हैं। उनके सामने नैवेद्य रखने से पूजा समाप्त होती है। यही है उस प्राचीनतम समानांतर धर्म का एक उदाहरण, भारत के विदर्भ इलाके का। दुनिया भर में इस के हजार रूप होंगे। इसका कोई तत्वज्ञान नहीं है।

सभी संघटित धर्मों के तत्व या आत्मज्ञान एकही प्रकार का होकर उनमें केवल कर्मकांड में निहित उपास्य

देवताओं में फरक है। शिवाजी के समय में उस धर्म को 'मराठा धर्म' कहते थे। ब्राह्मण रामदास स्वामी ने उसको जानबुझकर बदलकर 'महाराष्ट्र धर्म' कहा ताकि लगभग पिछले ८००० से ६००० सालों के समय में

दुनियापर छाए हुए इस धर्म को छिपाया जाय और 'म-हाटी प्रजाति' की महत्ता कम दिखाके ब्राह्मण प्रजाति का नाम बढ़ाया जाय।

सारांश

जिस प्रजाति को लेखक 'मरहटी' प्रजाति कहते हैं, उसका शास्त्रीय नाम 'होमोसेपियन' है। उसेही ब्राह्मण और ज्यू 'मानव' या 'मनुष्य' कहते हैं।

मानव विकास के टप्पे :- शिवापिथेकस (१० लाख वर्ष पूर्व)- रामापिथेकस (१० से ६ लाख वर्ष पूर्व)- होमोइरेक्टस (६.० से २.५ लाख वर्ष पूर्व)-होमोसेपियन=आधुनिक मानव (२.५ से १.५ लाख वर्ष पूर्व)- क्रोमॅगन मॅन (२०.००० साल पूर्व)। **इनके जिवाश्म कहा मिले ?:** शिवापिथेकस-पंजाब, होमोइरेक्टस-नर्मदा के किनारे, एम.पी.में, आधुनिक मानव-मनसर (नागपूर) इलाके में, हथियार मिले।

बौद्धिक और धार्मिक विकास :- २०,००० साल पूर्व के 'क्रोमॅगन' मानव का जिवाश्म मिला। वह प्रथम बुद्धिमान मानव। उसके आगे ही मानव का धार्मिक विकास संभव था। इस वक्त के धर्म का नाम 'मरहटी धर्म'; क्योंकि सबसे प्राचीन मानव की भाषा 'मरहटी' थी, मनसर-नागपूर इलाके में। यह धर्म पूरे विश्व में फैलता रहा भारतीय मानव के साथ। वह धर्म छत्रपति शिवाजी के समय (सन १७००) महाराष्ट्र में विद्यमान था 'मराठा धर्म' के नाम से। दुनिया/**भारत में उसके समानांतर धर्म थे:** शिवधर्म (८००० से ६००० वर्ष पूर्व), जैन धर्म व बौद्ध धर्म (सांख्य धर्म-इ.स.पू. २७५०), शाक्य धर्म, महानुभव धर्म, सिक्ख धर्म, ख्रिश्चन धर्म, हिब्रू धर्म, इस्लाम धर्म इत्यादि।

ईश्वरवादी धर्म की बुनियाद ही अंधश्रद्धा पर निर्भर ब्रह्मांड व सजीव की उत्पत्ति विज्ञान से

-दिवाकर डांगे

दुनिया में सबकुछ ईश्वर करता है कहने वालों के धर्म की बुनियाद ही अंधश्रद्धापर निर्भर है। दरअसल, ईश्वर मानने वाले सभी धर्म कबूल करते हैं कि, 'ईश्वर अथवा परमेश्वर को किसी ने कभी भी नहीं देखा।' यह उनके प्रमुख धर्म ग्रंथ में साफ तौर पर कहा गया है, ऐसा होकर भी ईश्वरवादी धर्म के ठेकेदार ईश्वर एवं परमात्मा के अस्तित्व का जनता के समक्ष छातीठोक कर बयान करते हैं। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उन ठेकेदारों के पास कुछ भी पुख्ता सबूत नहीं है। फिर भी वे खोखलें सबूत देते हैं, जो बुद्धि, इतिहास, विज्ञान व पुरातत्व ज्ञान की कसौटी पर सही साबित नहीं होते। वह ठेकेदार ईश्वर अदृश्य होने का झांसा देते हैं। इस संदर्भ में भगवान बुद्ध ने कहा है कि, "अदृश्य होने के बावजूद भी स्वयं का अस्तित्व जनता को दिखाना चाहिये। आसमान में बिजली हर वक्त आँखों से दिखाई नहीं देती है, किन्तु उस प्रकार के हालात निर्माण होने पर वह भी दिखाई देती ही है। उसी प्रकार हवा भी अदृश्य है, वह भी आँखों से दिखाई नहीं देती, किन्तु उसका भी स्पर्श हमें महसूस होता है। इसी तरह उस तथाकथित ईश्वर ने स्वयं का अस्तित्व क्यों नहीं दिखाया?"

ईश्वर की काल्पनिक रचना :

ईश्वर शब्द के देव, देवता, परमेश्वर और परमात्मा पर्यायी शब्द है। उसी प्रकार देव और देवता शब्दों के अतिरिक्त शेष सभी शब्द आधुनिक है। इसकी गवाही आचार्य वेदांत तीर्थ द्वारा लिखित 'जग का ज्ञानकोश' कहा जानेवाला 'ऋग्वेद' यह संस्कृत-हिंदी ग्रंथ देता है। (प्रथम संस्करण, मनोज पब्लिकेशन, नई दिल्ली) इस ग्रंथ की 'भूमिका' में स्पष्ट लिखा गया है की, "वैदिक साहित्य पर विचार करने वाले विद्वानों को

यह बात अजीब लग सकती है की, वैदिक संहिता (वेद) में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में ईश्वर शब्द रुढ़ि रूप से परमेश्वर शब्द के अर्थ से कहीं भी इस्तेमाल नहीं किया गया।"

"वैदिक साहित्य में दो-चार शब्द कुछ इस प्रकार हैं की, जिसमें परमेश्वर के व्यापक रूप को प्रगट किया गया है। वैदिक देवताओं में अग्नि, इंद्र, वायु, सविता, (सूर्य), विष्णु, वरुण, रुद्र आदि नाम ईश्वर शब्द के अर्थ से आ चुके हैं।"

ऋग्वेदादि ग्रंथ में ईश्वर, परमेश्वर अथवा परमात्मा यह शब्द इस्तेमाल नहीं किये गये। इन के बदले **पुरुष** शब्द का इस्तेमाल दिखाई देता है। भगवद्गीता में कृष्ण को '**पुरुषोत्तम**' कहा गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों संहिताओं के २० सूक्त में '**पुरुष**' शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में **परमपुरुष** अथवा **विराट पुरुष** इस तरह से विशेष रूप से प्रयोग किया गया है।

असल में देव और देवता इन शब्दों का प्रयोग अग्नि, इंद्र, वायु, सविता, विष्णु, वरुण और रुद्र के लिए वेदांत में किया गया है। देव और देवता शब्द पर्शिया देश के राजा के लिए इस्तेमाल किये जाते थे। पर्शिया देश के राजा को भी वेदों में देव अथवा देवता शब्द से सम्बोधित किया गया है। इसलिए **ऋग्वेद में परम पुरुष अथवा विराट पुरुष यह शब्द निश्चित रूप से मानव राजाओं के लिए ही प्रयोग में लाये गये है यह निसन्देह कह सकते हैं।** इन राजाओं को ही श्रेष्ठत्व देकर उन्हें विश्व निर्माता की बराबरी में काल्पनिक कथा रचकर बिठाया गया। अगर ऐसा नहीं होता तो वेद की रचना करनेवाले ऋषी, इन राजाओं के लिए देव-देवता इन शब्दों का इस्तेमाल ना करते

हुये ईश्वर, परमात्मा इन शब्दों का ही प्रयोग करते। किन्तु वेदादि वैदिक ग्रंथ लिखे जाने तक ईश्वर, परमात्मा शब्दों का प्रयोग हुआ ही नहीं होगा।

अन्यथा 'ईश्वर' इस संकल्पना का निर्माता मानव ही है। वेद के रचनाकार ऋषी भी मानव ही थे। इसलिए वैदिक ऋषियों ने पुरुष को परमेश्वर का दर्जा दिया। देव और उनके देवालय भी मानवों की ही निर्मिती है। यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है। सच्चाई तो यह है कि देव ने मानव और अन्य प्राणियों को जन्म दिया यह किसी भी सबूत से सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि **सजीव की निर्मिती ही पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन कुदरती घटकों से हुई है।** इसमें कोई दो राय नहीं है।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार दक्ष राजा की कन्या आदीती और ब्रह्मा इस प्रथम मानव का पौत्र कश्यप से जन्मे हुये औलाद को 'देवता' नाम दिया गया था। देवता यानी ईश्वर नहीं है। इंद्र और विष्णु भी आदीती की ही संतति थे यह वाल्मीकि रामायण में कहा गया है। पर्शिया देश का प्राचीन इतिहास भाग १ अनुसार पर्शिया देश के सुरपूर, इलावृत्त, नंदनवन, अपवर्त, इंद्रलोक एवं स्वर्गलोक ये सब इंद्र के राज्य के ही नाम थे। इंद्र का स्वर्गलोक और इंद्रलोक नामक राज्य ऊपर आसमान में कभी भी नहीं था। अर्थात् अब भी नहीं है। इंद्र का स्वर्गलोक पृथ्वीपर ही था। (देखे-पर्शिया का इतिहास भाग-१, पृ. २१९)। बाद में इंद्र ने गांधार (अफगाणिस्तान) देश का प्रदेश जीत लिया। आगे इंद्र ने अपना राज्यविस्तार पंचनदियों के प्रदेश तक बढ़ाया। इसी काल में जम्मु और हिमाचल प्रदेश मिलकर बने हुये प्रदेश पर विष्णु राजा की सत्ता थी। (देखे- राकेशनाथ, कितने खरे हमारे आदर्श? पृ. २७२) इंद्र ने विष्णुलोक पर आक्रमण किया। उनमें युद्ध हुआ। अंत तक कोई भी हारने को तैयार नहीं था तो इन दोनों ने आपस में समझौता कर लिया। यह दोनों ही एकसाथ मिलकर सुरापान करते थे जिस का

जिक्र ऋग्वेद ऋचा १-१५५-१ में मौजूद है। कई बार युद्ध के समय इन दोनों ने एकदूसरे को अनीति से भी मदद की है।

पर्शिया देश के नरक लोक के समीप सूर्य राजा का भाई वरुण का वैकुंठ नामक राज्य था। (पर्शियाचा इतिहास भाग १, पृ. १०१), सूर्य का भानजा यम राजा ने यमलोक राज्य वैकुंठ लोक के नजदीक स्थापित किया था। (पर्शियाचा इतिहास भाग-१, पृ. १०३) पर्शियाचा इतिहास भाग-१ इस मराठी ग्रंथ से यही स्पष्ट होता है की इंद्र राजा की रियासत स्वर्गलोक, वरुण राजा की रियासत वैकुंठ लोक और यम राजा की रियासत यमलोक, ये सारी रियासतें पर्शिया देश की भूमि पर थी। ये सभी राजाये मानव ही थे। किन्तु जनता को मूर्ख बनाने के प्रयोजन से उक्त वर्णित भूमि की रियासतें ऊपर आसमान में बहुत दूर तक होने का वर्णन इराण से भारत में आये ऋषियों ने किया। यही विचार जनता के दिमाग में ताला लगाकर बैठ गये हैं।

इंद्र मनुष्य होने का सबूत :

इंद्र ईश्वर या परमेश्वर ना होकर वह मानव राजा था। इसका सबूत वा.रामायण और ऋग्वेद में ही है। ऋग्वेद ऋचा १-७-१० में कहा गया है कि, "सम्पूर्ण मनुष्य में श्रेष्ठ इंद्र का आव्हान हे ऋषियों और यजमानों! हम तुम्हारे लिए कर रहे है-"

"इंद्र वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्य।

अस्माकमस्तु केवलः॥" ऋग्वेद १-७-१०

उक्त श्लोक में इंद्र को सर्व मनुष्य में श्रेष्ठ कहा गया है। किन्तु इंद्र को देव का दर्जा देने के लिए ऋग्वेद ऋचा १-७-३ में कह गया है कि, "जिसने अपने किरणों से सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशमान किया, पर्वत आदि समस्त जग को दर्शन देने के लिए प्रेरित किया उस सूर्य को इंद्र ने ही आसमान में स्थापित किया।" ऋचा

"इंद्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्य रोहयद् दिवि।

वि मोभिरद्रिमैरयत्॥" ऋग्वेद १-७-३

* एक मनुष्य राजा इंद्र, सूर्यसमान प्रचंड, महातेजस्वी और प्राणी उत्पन्न करने वाले कुदरत के एक घटक को आसमान में स्थापित कर सकता है, यह महज कल्पनाविलास ही है। इंद्र का रावणपुत्र मेघनाद, बहुजन राजा बली और वानरराज वाली को युद्ध में पराजित करने का जिक्र वैदिक धर्मग्रंथ में है। **पुरुष इंद्र** तथागत बुद्ध का दर्शन लेता था और स्वयं की समस्याएँ लेकर बार बार उनकी तरफ जाया करता था इसका जिक्र बौद्ध धम्म का विशाल ग्रंथ सुत्तपिटक में मौजूद है।

वैदिक धर्म ग्रंथ केवल काल्पनिक किस्सों की पोटली है। **यह किस्से बार बार मूलनिवासी बहुजनों को सुनाकर उन्हें अज्ञानी बनाकर रखा गया। यह किस्से बुद्धी की, तर्क की, विज्ञान की, इतिहास की और भूगोल की कसौटी पर बिल्कूल भी टिक नहीं सकते, ऐसा क्यों?**

ब्रह्मा के साथ सभी देवतागण मानव ही थे:

हम पहले बता चुके हैं कि, इंद्र, विष्णु, वरुण आदि मनुष्य ही होकर उनके वंश के नाम उनकी माता के नाम से देवता रखा गया था। इससे विश्व का ज्ञानकोश कहे जानेवाले वेदों में भी मनुष्य को ही ईश्वर का दर्जा दिया गया और मूलनिवासीयों को ईश्वर के नाम पर अंधश्रद्धा की खाई में डुबोया गया यह समझ में आता है।

वैदिक हिंदू धर्म का आद्य **पुरुष** ब्रह्मा सृष्टि का निर्माता ना होकर वह एक मानव जाति का पुरुष ही था, इसके कुछ उदाहरण आगे हैं-

सभी देवताओं को युवा दिखाया जाता है। किन्तु ब्रह्मा को वृद्ध, पके हुये बालों का क्यों दिखाया जाता है? इसका कारण ब्रह्मा को सृष्टि का आद्यपुरुष कहा गया है इसलिए वह ज्यादा वयस्क होगा ही। यही वजह है ब्रह्मा को वृद्ध दिखाया जाता है। देखा जाये तो प्रकृति के नियम अनुसार कोई भी अमर नहीं हो सकता। राम को सरयु नदी में खुदकुशी करनी पड़ी

और कृष्ण को पारधी के विषारी बाण से मृत्यु के स्वाधीन होना पड़ा। सभी देवता यदि मानव की ही संतान थे तो अमर तो कोई हो ही नहीं सकता, फिर उन्हें देव, देवता, ईश्वर, परमेश्वर या परमात्मा आदि कुछ भी कहो। मनुष्य को १०० सालों की आयु प्राप्त करने के लिए ऋग्वेद में प्राथनाएँ मौजूद हैं। मनुष्य के कुल १०० साल के आयु की कल्पना कर, ब्रह्मचार्यश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम इन चार आश्रम की व्यवस्था आर्य ऋषियों ने कर के रखी थी। इससे तथागत बुद्ध का अनित्य और परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त बेजोड़ था।

ब्रह्मा नाम के ऋषि के अस्तित्व का जिक्र ऋग्वेद १-१०-१ में मौजूद है। अर्थात ब्रह्मा मानव ही था। ईश्वर काल्पनिक मामला है। वेदों में ईश्वर, परमेश्वर अथवा परमात्मा आदि नाम है ही नहीं। इसका क्या अर्थ है?

तथागत बुद्ध को सम्यक ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात धम्म दुनिया को बतायें या ना बतायें यह दुविधा की स्थिति तथागत बुद्ध के मन में निर्माण हो गयी थी। तब चिंताग्रस्त ब्रह्म तथागत बुद्ध के पास आकर खड़े हो गये। अपना उत्तरीय वस्त्र कंधे पर ठीक से सँवारने के बाद नम्रता से हाथ जोड़कर उन्होंने तथागत से कहा, “आप अब सिद्धार्थ गौतम ना होकर भगवान बुद्ध है, तथागत है, आप संसार को अंधकार से मुक्त करने का कार्य कैसे नकार सकते हैं? सन्मार्ग से विमुक्त मानवजाति का रक्षण करने का कार्य से आप कैसे विन्मुख हो सकते हैं? आपका सद्धम्म सुनने को ना मिलने पर संसार में विचरण करने वाले अशुद्ध मन के मनुष्यों का अधःपात हो रहा है।”

ब्रह्म सहंपती ने आगे कहा, “भगवान जानते ही है कि, प्राचीन काल से मगधवासियों में अनेक त्रुटियों से भरा हुआ एक अशुद्ध धर्म प्रचलित है। अपने अविनाशी धम्म का द्वार उनके लिए भगवान खोलेंगे नहीं क्या? पर्वत शिखरपर खड़ा रहने वाला मनुष्य

जिस तरह अपने इर्द गिर्द नीचे खड़े लोगों को देखता है, उसी तरह प्रज्ञा के शिखरपर चढ़कर उस सर्वोच्च स्थानपर खड़े रहकर देखनेवाले हे दुःखमुक्त भगवान! दुःख के सागर में डूबे हुये इन लोगों की ओर देखे। जन्मकरण से मुक्त हे विजयी वीर! उठिये जग की ओर देखें। उनकी ओर पीठ ना करे। भगवान, देव और मानव इनपर करुणा बुद्धि से उन्हें अपने सद्धम्म की शिक्षा देने का निश्चय करें।”

ब्रह्म सहंपती को भगवान बुद्ध ने कहा, “महान मानवश्रेष्ठ ब्रह्मा! मैंने मेरे धम्म का सार्वजनिक उपदेश नहीं किया, इसका कारण मुझे यह करना कष्टप्रद होगा ऐसा लगता है।” जग में बहुत दुःख है यह जानकर भगवान बुद्ध को एहसास हुआ कि, हाथ जोड़कर सन्यासी कहलाकर शान्त बैठना और जग में जो हो रहा है वह वैसा ही होने देना ठीक नहीं है। संन्यास निरुपयोगी है यह एहसास उन्हें हो गया। जग से दूर भागने का प्रयास करना व्यर्थ है। संन्यासी को भी जग से मुक्ति नहीं मिलती। जग से दूर भागने के बजाय जग को बदलकर उसकी सुधारणा करना ही बेहद जरूरी है यही उन्हें ज्यादा उचित लगा।

तथागत बुद्ध को यह एहसास हुआ की, उन्होंने संसार का त्याग केवल इसलिए किया की, जग में इतना संघर्ष है और उससे जग में दैन्य व दुःख निर्माण हो गया है, जिसका कोई भी हल नहीं है। यदि धम्म प्रचार से दुनिया से दुःख एवं दैन्य दूर हो सकता है तो महज निष्क्रियता की मूर्ति बनकर बैठने के बजाय संसार में फिर से जाकर उनकी सेवा करना यही हमारा कर्तव्य है, यह उनकी समझ में आया।

इसलिए तथागत बुद्ध ने ब्रह्म सहंपति की विनती स्विकृत कर अपने सिद्धान्त की शिक्षा संसार को देने का निश्चय कर लिया।

* तथागत को धम्म का उपदेश जनता को देने के लिए प्रवृत्त किया, यह विचार मन में आते ही ब्रह्म सहंपति का बेहद हर्ष हुआ। उन्होंने तथागत को वंदन

किया। उनकी प्रदक्षिण की और उनकी ओर एकबार देखकर ब्रह्म सहंपती ने वहाँ से प्रस्थान किया।

बुद्ध धम्म की स्तुती दुनिया के समक्ष प्रस्तुत करने वाला ब्रह्मा:

लौटते वक्त ब्रह्मा ने दुनिया के सामने घोषित किया कि, “यह शुभवार्ता सुनकर आनंद मनाओ! संसार के सभी दुःख व पाप की जड़ें तथागत बुद्ध ने दूँढ ली है! इस दुःख से बाहर निकलने का मार्ग भी उन्हें प्राप्त हो गया है।”

“दुःखी और कष्टमय जीवों को भगवान बुद्ध स्वास्थ्य देंगे। युद्ध पीड़ितों को वे शान्ति देंगे। जिनका हृदय विदीर्ण हो चुका है, जिनका दिलासा ढह चुका है, उन्हें ढाँढस देगे। जो जुल्म तले रौंदे गये है, उनमें वे आशा और विश्वास निर्माण करनेवाले है।”

“जग के दुःख से ग्रसित लोगों! जीवन जीने के लिए लड़ने वालों! न्याय के लिए तिलमिलाने वालों! इस शुभ वार्ता से खुशियाँ मनाओ।”

“जख्मी लोगों! तुम्हारे जख्मों का उपचार हो ही गया ऐसा समझो! प्यासे लोगों! अपनी तृष्णा शान्त कर लो। अंधेरे में टटोलने वालों! अब प्रकाश प्राप्त कर लो। निष्क्रिय लोगों! अब हर्षित हो जाओ।”

“तथागत बुद्ध के सिद्धान्त में ऐसी प्रचण्ड प्रेरणा है की, जो परित्यक्त है, अनाथ है, उन्हें अपनाने की तीव्र ख्वाहिश है। जो अधःपतित है, उन्हें अपना उद्धार करने की उदात्त प्रेरणा प्राप्त होती है और जो पददलित है उन्हें प्रगति पथपर लेकर जानेवाली समता की प्रकाश किरणें प्राप्त होती है।”

“तथागत बुद्ध का धम्म सदाचार की शिक्षा देने वाला धम्म है और इस पृथ्वीपर सदाचार का राज्य प्रस्थापित करना यही उनका उद्देश्य है।”

“उनका धम्म अर्थात् सत्य, सम्पूर्ण सत्य, सत्य के अलावा दूसरा कुछ भी नहीं केवल सत्य ही है।”

“धन्य है तथागत बुद्ध, जिनका मार्ग बुद्धिवादी और धर्मान्धता से मुक्ती का है! धन्य है तथागत बुद्ध

जो मध्यम मार्ग का उपदेश करते हैं। धन्य है तथागत बुद्ध की जो सत्धम्म, की ही शिक्षा देते हैं, मैत्री, करुणा एवं भ्रातृभाव की शिक्षा देते हैं।”

* ब्रह्म संहंपति समान महान मनुष्य तथागत बुद्ध को वंदन करते हैं। उन्हें प्रदक्षिणा करके उनके सत्धम्म की तारीफ और वार्ता संसार को बताते हैं। इससे तथागत बुद्ध को वाल्मीकि ने कहा है की, “आप ज्ञान में श्रेष्ठ एवं सर्वव्यापक हो। आप समस्त देवताओं से भी श्रेष्ठ बुद्ध हो।” यह सब उन्होंने यूं ही नहीं कहा। (वा.रा.श्लोक ६-११७-६) तथागत बुद्ध के आगे देव-देवता की योग्यता समझ में आती है।

ईश्वर की काल्पनिक निर्मिती को इतिहास की गवाही :

ऋग्वेद सहित सम्पूर्ण वैदिक संहिता में देव-देवता को ईश्वर, परमेश्वर, भगवान अथवा परमात्मा नहीं कहा गया। इन सब का ज्यादा से ज्यादा **पुरुष** अथवा **देव-देवता** नाम से ही गौरव किया है। इससे वेदकर्ता ऋषियों के लिए भी पुरुष से श्रेष्ठ दर्जे का इस दुनिया में अन्य कोई भी नहीं है। यही वेदों से सुचित किया गया ऐसा कह सकते हैं। सबसे उत्तम पुरुष ही है यह ध्यान में रखकर रामायण और भगवद्गीता के कवियों ने राम एवं कृष्ण को **पुरुषोत्तम** शब्द जोड़ा है यह सहजता से समझ में आता है। **पुरुषोत्तम शब्द यदि ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं होता तो वेदों में देवताओं के लिए ईश्वरोत्तम, परमेश्वरोत्तम और देवोत्तम इन शब्दों का इस्तेमाल होता।**

महाराष्ट्र के विश्वविद्यालयों में प्राचीन भारतीय संस्कृति का इतिहास पाठ्यक्रम के मान्यता प्राप्त ग्रंथ में भी ‘ईश्वर की निर्मिती’ यह मानव की कल्पना से ही की गई है ऐसा कहा है। मेरे वक्तव्य के समर्थन में डॉ. वसंत दीनानाथ राव, इतिहास के भूतपर्व प्राध्यापक और इतिहास विभाग के भूतपर्व प्रमुख, शिवाजी विद्यापीठ कोल्हापुर के ग्रंथ का संदर्भ दे रहा हूँ।

आरंभ में विविध काल्पनिक देवता :

“चारों ओर फैली हुयी कुदरत की विविध घटनायें आर्य के मन पर अंकित हो रही थी। सृष्टि के (प्रचंड आँधी का कहर, प्रचंड वर्षा की बौछार होना, बादल और बिजली की डरावनी कडकडाहट और चमकना, ओलावृष्टि, बाढ़ आदि) इन घटनाओं का उनके मनपर गहरा असर हुआ। सृष्टि में जो जो विस्मयकारक, प्रशंसायोग्य घटना दिखाई दी आर्य ऋषियों के मन उस ओर खिंचते चले गये। इन सभी घटनाओं के चमत्कारों की जड़ों में चेतनाशक्ति होनी चाहिये यह उन्होंने भाप लिया। उस चेतना शक्तियों को ही उन्होंने हाथ-पैर, सिर आदि से युक्त देवता का रूप दे दिया। चारों ओर सब तरफ दूर दराज़ तक फैले हुये भूमि से प्रभावित होकर उन्होंने ‘पृथ्वी देवता’ की कल्पना की। सिर पर फैले हुये और चमकिले आसमान के आधारपर उन्होंने ‘द्यौ’ देवता की कल्पना की। इसी तरह स्पर्श से महसूस होने वाले वायु के आधारपर ‘वायुदेवता’, तप्त भूमि से शीतलता प्राप्त करके उसे सस्यशामला करनेवाले बारिश के आधार पर ‘पर्जन्य देवता’ की कल्पना की। इसी तरह सृष्टि की घटनाओं पर आधारित अनेक देवताओं की कल्पना ऋषियों ने की।”

“उनके उपयोग में आने वाली शक्तियों के आधार पर जिन देवताओं की निर्मिती हुई एवं उनकी राह में रुकावट बननेवाले, असुविधा उत्पन्न करनेवाली घटना के आधारपर राक्षस, तायु, द्रुहः अंश आदि अनिष्ट चेतना की भी उन्होंने कल्पना की थी। देव प्रिय और राक्षस उन्हें अप्रिय थे। कई प्रार्थनाओं में से ‘इस अनिष्ट शक्ति का नाश करो।’ यह विनती देवता से आर्य ऋषियों ने की थी।”

“ऋग्वेद में आर्य ऋषियों ने सृष्टि का स्वरूप त्रिलोकात्मक है की कल्पना की। यह तीनों लोक अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश ही है। इन तीनों

लोकों में अलग अलग देवता का वास होने की कल्पना की गई। पृथ्वी, अग्नि, सोम, बृहस्पती, नदियाँ आदि इस पृथ्वी के देवता; इंद्र, वायू, रुद्र, वर्षा और जल आदि अन्तरिक्ष के देवताओं की कल्पना की गई और द्यौस, वरुण, मित्र सूर्य (सविता), विष्णु, विवस्वान, आदित्य (उषा) को स्वर्ग के देवता समझा गया।”

“ऋग्वेद में प्रथम कुल ३३ देव बताये गये हैं। किन्तु आगे इसका अर्थ असंख्य देवों में किया गया। सर्व देवों का (मानवों का) जन्म हुआ और वे अमर हैं ऐसा कहा गया। यह अमरत्व उन्हें जन्म से प्राप्त हुआ अथवा अग्नि और सूर्य के तेज से प्राप्त हुआ है या सोमरस प्राशन से प्राप्त हुआ है। सभी देवों को मानवी कल्पना से ही निर्माण किया इसलिए उनके आकार मानवसदृश्य हैं। मनुष्य का भोजन वही देवों के भी भोजन है। उन्मादकारक (नशा लानेवाला) सोमरस यह उनका प्रिय पेय है। आमतौर पर इन देवताओं को मानव के लिए उपकारक ही समझा जाता था। तेज, वीर्य, और ज्ञान यह उनके मुख्य गुण माने गये। यह देवता दुष्टों का नाश करते हैं और जगत का प्रबन्धन अच्छी तरह से करते हैं। वे ऋत या सत्य मार्ग से चलते हैं और मानव को चलाने के लिए विवश कर देते हैं। यह देवता सज्जन का संरक्षण और दुर्जनों का संहार करते हैं इस तरह ऋग्वेदकालीन आर्यों की कल्पना थी।”

*** कल्पना से निर्मित देव अमर कैसे हो सकते हैं? जबकि तथागत बुद्ध और वैज्ञानिक, सब अनित्य एवं परिवर्तनशील होने का कहते हैं। इंद्र ने सति अहिल्या से बलात्कार, विष्णु ने सति वृंदा का चारित्र्यभंग, चंद्र का गुरुपत्नी से संभोग, ब्रह्मा का स्वकन्या से व्यभिचार इस तरह अनेक अनीतिमान तत्वों से सज्जनों का संरक्षण और दुर्जनों का संहार करने को वैदिक ऋषियों की मान्यता थी, तो वह ऋषि कैसे होंगे इसका अंदाजा आसानी से लगा सकते हैं।**

‘आगे आर्यों ने एक ही सर्वश्रेष्ठ देव मानना शुरु किया। प्रथम वरुण को देवों का राजा बनाया। उसके बाद इंद्र को देवों का राजा बनाया। उसके बाद देवताद्वितय, समुहात्मक देवता यह कल्पना आर्यों ने की।’

ऋग्वेद की देवताओं को ऋषियों की प्रार्थना:

वेदों में देवताओं को संबोधित कर जो प्रार्थनाएँ मौजूद हैं उनमें से कुछ चुनिंदा देखा जाए तो यह समझ में आयेगा कि, ‘हमें विपुल पशुधन प्राप्त हो’, ‘उत्तम निवासस्थान प्राप्त हो’, ‘सौ साल की आयु प्राप्त हो’, इन बड़ी से बड़ी सभाओं में उच्च स्वर से ‘हे! देवताओं! तुम्हारी प्रार्थना करने का भाग्य प्राप्त हो’, ‘हमने ये नया, अधिक सामर्थ्य संपन्न स्रोत, हे! देवों आपको संबोधकर रचा है।’, ‘पहले भी हम तुम्हारे निरंतर यशोगान करते रहे हैं।’, ‘फिर हमारी यह प्रार्थना सुनकर आप यहाँ आये’, ‘हमारे शत्रुओं का संहार करें’, ‘हमारा अभिष्ट हमें दें’, ‘यह उचित नहीं क्या?’ इस तरह की प्रार्थनाएँ इन सभी आर्यों ने स्वयं के लाभ की दृष्टि से की हैं। इन प्रार्थनाओं में सभी वर्णों के कल्याण कहीं भी नजर नहीं आते।

वेदों की रचना जनता की अंधश्रद्धा दृढ़ करने के लिए :

ईराणी आर्य भारत में आने से पहले सिंधु संस्कृति और संपूर्ण भारत के मूलनिवासी नागवंशीय थे। यह नागवंश सम्पूर्ण भारत में फैला हुआ था। यह लोक निसर्गवादी संस्कृति के थे। वे किसी भी देवी-देवता के पूजक नहीं थे। वे केवल सूर्य, अग्नि, वायू, वर्षा, पृथ्वी, जल, वृक्ष और प्राणी उत्पत्ति के प्रतीक लिंगपिंड के प्रति दृढ़ श्रद्धा रखते थे। वे मद्यपान नहीं करते थे। (वा.रा.१-४५-३८)। सिंधु संस्कृति के उत्खनन में प्राप्त हुये वह लिंगपिंड थे वह शिवलिंग नहीं हैं। शिवलिंग शब्द का प्रयोग आद्य शंकराचार्य ने इतिहासकार और पुरातत्वीय शास्त्रज्ञ व जनता के मन में भ्रम निर्माण करने के लिए ही किया। रावण की लंका में केवल

बौद्ध धम्म का चैत्यप्रासाद था। वहाँ वैदिक हिंदू धर्म का एक भी मंदिर होने का जिक्र वाल्मीकि रामायण में नहीं है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में शिव का (शंकर का) जिक्र नहीं है।

वेदों में देवता जाति के मनुष्य को एक बार भी ईश्वर अथवा परमेश्वर नहीं कहा गया। वेदों में जिन जिन देवताओं का जिक्र किया गया है वह सभी मानव ही थे। **वेद इस ब्राह्मणी धर्मग्रंथ में ईश्वर का, परमेश्वर का और परमात्मा का नामोनिशान भी नहीं है।** इसलिए आर्य ऋषियों ने सभी देवताओं की निर्मिती कल्पना से ही की है। वेदों में मनगढ़ंत देवता, मनगढ़ंत विश्वउत्पत्ति दिखाई गई है। किन्तु तत्कालीन मूलनिवासी भारतीय जनता को अज्ञान रखा गया था। उन्हें पढ़ने लिखने का अधिकार नहीं था। इसलिए मूलनिवासी भारतीयों में काल्पनिक और चमत्कारिक कथाओं के माध्यम से उनमें अंधश्रद्धा दृढ़ करना आसान हो गया और इसलिए इंद्र व उनके सम्बन्धी को गाय-बैल का विपुल प्रमाण में मांस खाना, विपुल प्रमाण में सूरापान करना, किसी भी स्त्रीपर बलात्कार करना, इन सब के लिए उन्हें खुला मैदान मिल गया और मूलनिवासी का पतन हो गया।

***ब्रह्मांड व सजीव की उत्पत्ति विज्ञान से :**

विज्ञान से सृष्टि उत्पत्ति : ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की है यह हर ईश्वरवादी धर्म कहता है। किन्तु **किस धर्म के ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की है?** (ब्रह्माने, येशुपिता ने या अल्लाहने?) **यह तीनों ईश्वर एक ही है क्या? यह यदि एक ही होंगे तो पहले धर्म का ईश्वर अस्तित्व में था फिर भी दूसरे धर्म की निर्मिती क्यों? एक ईश्वर अस्तित्व में था तो उसके बाद के धर्म के ईश्वर का क्या काम था? प्रत्येक ईश्वर यदि अलग अलग थे तो उन्होंने अलग अलग निर्माण की हुई पृथ्वी कहाँ है? यदि है भी तो बाद में जिस धर्म के ईश्वर ने पृथ्वी निर्माण की उनके लोग अपनी पृथ्वीपर रहने के लिए क्यों नहीं गये? सभी धर्म के**

लोग एक ही पृथ्वी पर क्यों रहते है? यह सृष्टि अथवा ब्रह्मांड किस ईश्वर ने किन किन चिजों से बनाया?

उक्त प्रश्नों की मालिका और लंबी हो सकती है। किन्तु उपरोक्त किसी भी प्रश्न का उत्तर किसी भी ईश्वरवादी धर्म के पास है ऐसा मुझे बिल्कुल नहीं लगता। क्योंकि वे सृष्टि उत्पत्ति शून्य से हो गई ऐसा कहते है। वैदिक धर्म कहता है की, ब्रह्मांड में सर्वत्र पानी था। उस पानी में एक अंडा था। उसमें ब्रह्मा और अन्य देव हजारों सालों से बंद थे। बाद में अंडा फोड़कर वे बाहर आ गये। फिर **सृष्टि का निर्माता ब्रह्मा कैसे?** क्योंकि ब्रह्मा के पहले ब्रह्मांड, पानी और अंडा था। फिर वह ब्रह्मांड, पानी और अंडा किसने और किससे निर्माण किया? ब्रह्मा तो पृथ्वी का पहला मानव। वह क्या उत्पन्न करेगा? **सृष्टि उत्पन्न करना कोई बच्चों का खेल है क्या?** सभी ईश्वरवादी धर्म ने सृष्टि की उत्पत्ति कल्पना से बताई है।

उपरोक्त कल्पना से की गई सृष्टि उत्पत्ति को तथागत बुद्ध और विज्ञान की मान्यता नहीं है। तथागत बुद्ध और विज्ञान ने सृष्टि उत्पत्ति उर्जा (Energy = अनंत ऊर्जा) और उसके साथ चेतना (Consciousness = चेतना) से होने का सबूतों के आधारपर कहते है। तो देखते है सृष्टि उत्पत्ति बाबत तथागत बुद्ध के और विज्ञान के विचार।

ब्रह्मांड उत्पत्ति के ३ परमाण्विक कण:

संपूर्ण ब्रह्मांड ३ परमाण्विक कण से बना हुआ है। (१) इलेक्ट्रॉन (२) प्रोटॉन और (३) न्यूट्रॉन ये वह ३ कण है। परमाणु विविध प्रकार के होते है। (१)हिलियम परमाणु, (२) लिथियम परमाणु, (३) ऑक्सीजन परमाणु, (४) पोटेशियम परमाणु और (५)युरेनियम परमाणु इत्यादी है।

प्रत्येक परमाणु के नाभिक में जितनी संख्या प्रोटॉन की होती है वही इन तत्त्वों की परमाणु संख्या कही जाती है।

पदार्थ किसे कहते हैं? पदार्थ वह है जिसमें द्रवमान होता है। इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, न्यूट्रिनो आदी कण और निर्मित नाभिक, परमाणु, अणु और अणु की सहायता से बने हुये सभी सूक्ष्म और स्थूल वस्तु, पदार्थ है।

जड़ किसे कहते हैं? उन सभी वस्तु जिनमें ऊर्जा विद्यमान है, उन वस्तुओं को जड़ कहते हैं। इसलिए सभी पदार्थ, तीनों भौतिक फिल्ड और प्रकाश कण जड़ है। वस्तु जितने उँचाई पर होगी, उसकी ऊर्जा उतनी ही ज्यादा होती है। उसमें पृथ्वी पर पड़ने की प्रकृति उतनी ही ज्यादा होती है। यहाँ एक बात ध्यान में रखना चाहिये की, जिन वस्तु में पिंड अथवा कण की ऊर्जा जितनी अधिक होगी उसकी अस्थिरता उतनी ही ज्यादा होगी-

फैलता हुआ ब्रह्मांड : विज्ञान के अनुसार हमारा ब्रह्मांड अब भी फैल रहा है, कैसे फैल रहा है? जैसे किसी गुब्बारे में हवा भरो तो वह फूलता है। उसके ऊपरी सतह का प्रत्येक बिंदू एक दूसरे से दूर हो जायेगा। अर्थात् यहाँ आकाशगंगा से सम्बन्ध है। जैसे भवन के निर्माण के लिए ईंटों की जरूरत होती है उसी तरह ब्रह्मांड की वस्तु आकाशगंगा, एक दूसरे से दूर-दूर हो रही है।

ब्रह्मांड कैसे विकसित हुआ? शुरु में हमारा ब्रह्मांड बॉल के आकार का था। इसलिए इसे (Primordial fire ball) कहा गया। ब्रह्मांड के सारे पदार्थ बेहद संघनित रूप में थे। इतने अधिक संघनित थे की, एक माचिस की तिल्ली पर पदार्थ का वजन लाखों टन था। उसके भीतर का तापमान अमर्याद सेंटीग्रेड था। आज से लगभग १५०० करोड़ सालों पहले उस स्वर्ण कन्दुक (Primordial fire ball) में महाविस्फोट हुआ। सारे पदार्थ तेज रफ्तार से महाविस्फोट के स्थान से बाहर फैल रहे हैं। इस महाविस्फोट को Big Bang के अलावा दूसरा नाम नहीं है।

(*इसी प्रकार का छोटा महाविस्फोट स्विट्ज़रलैंड

देश में पिछले साल शास्त्रज्ञों ने किया और उस पर अनुसंधान चल रहा है। २७ किलोमीटर सुरंग में उतने ही आकार की मशिनरी शास्त्रज्ञों ने वहाँ तैयार की, उसे ३५ हजार करोड़ का खर्च हुआ है। यदि उस प्रयोग का सफलतापूर्ण संशोधन हुआ तो ईश्वरने सृष्टि निर्माण की इस बात को निसन्देह ही दफनाया जायेगा।)

आरंभ में महाविस्फोट के बाद ब्रह्मांड का तापमान अरबों डिग्री था। इतने बृहत् तापमान से समस्त पदार्थ प्लाज्मा स्वरूप में था। अर्थात: प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और इलेक्ट्रॉन के स्वरूप में था। कुछ युग पश्चात् कुछ प्रमाण में तापमान कम हुआ तब न्यूट्रॉन और प्रोटॉन आपस में जूड़कर नाभिक का निर्माण हुआ। तापमान और घटनेपर नाभिक के नजदीक इलेक्ट्रॉन आकर परमाणु निर्माण हो गये और फिर अणु निर्माण हो गये (सूर्य)। आज से हजारों करोड़ सालों पहले सूर्य का जन्म हुआ। पाँच सौ करोड़ साल पहले हमारी पृथ्वी का जन्म हुआ। उस वक्त पृथ्वी बेहद उष्ण थी। धीरे धीरे वह ठण्डी होती गई। वायुमंडल बन गये और कुछ करोड़ सालों पहले समंदर में उपयुक्त पर्यावरण बनने पर विद्युत चुंबकिय बल के माध्यम से प्रथम जीवन अणु (डी.एन.ए.) निर्माण हो गये। पहले वनस्पती की उत्पत्ति हो गई। बाद में प्रकृति (विद्युत चुंबकीय बल) के द्वारा प्राणी कोशिका तैयार हो गई। लम्बे अरसे बाद मनुष्य का प्राकट्यन इस धरती पर होने लगा। तथागत **बुद्ध ऊर्जा और उसके साथ चेतना (जाणीव) को ही ब्रह्मांड उत्पत्ति का कारण मानते हैं।**

चार हायड्रोजन परमाणु आपस में संयोग कर एक हिलियम परमाणु बनाते हैं। हायड्रोजन सूर्य का ही नहीं बल्कि तारों का भी प्रमुख ईंधन है। एक वक्त ऐसा आयेगा की यह ईंधन समाप्त हो जायेगा। ईंधन के अभाव से सूर्य का चमकना बंद हो जायेगा किन्तु उसके पहले पृथ्वी का जीवन समाप्त होगा। सूर्य पृथ्वी से लगभग १३ करोड़ मैल (२० करोड़, ८० लाख कि.मी.) दूर है। सूर्य का द्रवमान पृथ्वी के द्रवमान से

३ लाख गुना है। सूर्य से प्रकाश और उष्णता पृथ्वी प्राप्त कर रही है। इसलिए इस पृथ्वीपर जीवन का विकास हुआ और पृथ्वी पर सभी ईंधन का निर्माण भी हुआ।

ब्लैक होल : यह एक ऐसा आकाशीय पिंड है जो उसके करीब से जाते हुये प्रकाश को भी पकड़ सकता है। इसलिए उससे कुछ भी प्रकाश बाहर नहीं निकल पाता। स्वयं का भी नहीं और बाहर का भी नहीं।

ब्रह्मांड निर्माण के ३ बल :

(१) नाभिकीय बल (Nuclear Force) (२) गुरुत्वीय बल (Gravitational Force), (३) विद्युत चुंबकीय बल (Electro Magnetic Force)। जो कार्य करते है उसे बल कहते है। प्रकृति में ३ परमाण्विक कण है-न्यूट्रॉन, प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन, उनमें भी विभिन्न बल कार्य करके नाभिक से ब्रह्मांड का निर्माण करते है। हमारा मानवी शरीर भी इसी बल के कारण विद्यमान है।

ब्रह्मांड जालीसमान : विज्ञान के अनुसार ब्रह्मांड के समस्त पदार्थ एक दूसरे से जाली समान आपस में बुने हुये है। किसी भी कण अथवा पदार्थ का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उनके अंतःक्रिया के बिना प्रत्येक कण की दूसरे कण से पल पल में अंतःक्रिया होती ही रहती है। अंतःक्रिया करना यह कण का स्वभाव है। बगैर अंतःक्रिया से कण का अस्तित्व नहीं है। कोई भी ठोस आकार नहीं। अंतःक्रिया ३ प्रकार की होती है। (१)शक्तीशाली अंतःक्रिया, (२) गुरुत्वीय अंतःक्रिया, (३)विद्युत चुंबकीय अंतःक्रिया।

तीनों लोक का क्या अर्थ है? वैदिक ब्राह्मण धर्मग्रंथ में तीनों लोक अर्थात स्वर्गलोक, मृत्युलोक और पाताल लोक बताया गया है। किन्तु विज्ञान के भाषा में कहा जाय तो (१) आवेश का लोक, (२)अंतरिक्ष पिंड का लोक (३) भौतिक क्षेत्र का लोक है।

आवेश का लोक : यह लोक विद्युत आवेश का है। आवेश में विद्युत चुंबकीय बल क्रियाशील होता है। परमाणु, अणु और अन्य छोटे छोटे पदार्थ इस लोक में है। जीव इसी लोक में उत्पन्न होते है। आवेश सम्पूर्ण ब्रह्मांड में है। इसलिए यह आवेश लोक भी हरएक स्थान में विद्यमान है।

अंतरिक्ष पिंड का लोक : ग्रह, उपग्रह, तारे, आकाशगंगा आदि आकाशीय पिंड इस लोक में है। यहाँ गुरुत्वीय बल का साम्राज्य है।

भौतिक क्षेत्र का लोक : यह लोक निराकार है। यहाँ कोई भी पदार्थ नहीं होता। इस लोक में तरंगे ही तरंगे है। यह तरंग निरंतर गतीशील होते है। गुरुत्वीय तरंग और अति महत्वपूर्ण विद्युत चुंबकीय तरंगों का यह लोक है। हर स्थान पर तीनों लोक विद्यमान है, जिसकी अनुभूति पदार्थ के स्वरूप पर निर्भर होती है।

ऊर्जा और कार्य : कार्य करनेवाली क्षमता को ऊर्जा कहते है। ऊर्जा भिन्न भिन्न प्रकार की है। विद्युत ऊर्जा, चुंबकीय ऊर्जा, गुरुत्वीय ऊर्जा, नाभिकीय ऊर्जा, रासायनिक ऊर्जा, स्थितीज ऊर्जा, गतीज ऊर्जा, ताप ऊर्जा, यांत्रिक ऊर्जा, परमाण्विक ऊर्जा, आणविक ऊर्जा आदि ऊर्जा के प्रकार है।

ऊर्जा का रुपान्तरण होता है : प्रत्येक ऊर्जा एक दूसरे में परिवर्तनशील है। जैसे-विद्युत ऊर्जा को बल्ब, प्रकाश में परिवर्तित करता है। हीटर ताप में परिवर्तित करता है। पंखा यांत्रिक ऊर्जा में परिवर्तित करता है, बड़े से बड़े बाँध में पाणी संग्रहित किया जाता है उसमें स्थितिज ऊर्जा होती है।

महत्वपूर्ण स्थितीज ऊर्जा : यह विचित्र प्रकार की ऊर्जा है। महत्वपूर्ण इसलिए की, चैतसिक जगत में स्थितिज ऊर्जा है।- उसे आस्त्रव कहा जाता है। इन दोनों में विचित्र प्रकार की समानता है।

ऊर्जा अविनाशी है- ऊर्जा का विनाश नहीं होता। एक ऊर्जा दूसरे प्रकार की ऊर्जा में परिवर्तित हो सकती है अपना अस्तित्व खोये बगैर। इसलिए वैज्ञानिक

की दृष्टि से ऊर्जा अविनश्वर है। तथागत बुद्ध ने इसी ऊर्जा को अनंत यह उचित नाम दिया है। अनंत अर्थात असीमित या जिसका कोई अंत नहीं। इसी को एनर्जी कहा जाता है।

शरीर रचना और क्रिया विज्ञान : शरीर की जिवित रचना कोशिका है। प्रत्येक अंग कोशिकाओं का संचयन है। यद्यपि शरीर की कई कोशिका एक दूसरे से भिन्न है। किन्तु उनमें बुनियादी समानता है। जैसे सभी कोशिकाओं में ऑक्सिजन संयोग करता है। कार्बोहायड्रेट, वसा अथवा प्रोटीन के साथ जिनमें कोशिका कार्य करने के लिए ऊर्जा प्राप्त करते हैं।

प्रोटोप्लाज्म : वह सभी पदार्थ जो कोशिका निर्माण करते हैं, उन्हें सही मायने में प्रोटोप्लाज्म कहते हैं। प्रोटोप्लाज्म का निर्माण पाँच बुनियादी पदार्थ के द्वारा किया जाता है। (१) जल, (२) इलेक्ट्रोलाइट, (३) प्रोटीन, (४) वसायुक्त पदार्थ, (५) कार्बोहायड्रेट, इनमें इलेक्ट्रोलाइट प्रमुख है।

हमारा शरीर खरबों कोशिकाओं से बना हुआ है। प्रत्येक कोशिका तरल पदार्थ के बॅग समान होती है। जैसे दुध का पैकेट, इस पैकेट के २ भाग होते हैं, दूध और प्लास्टिक की बॅग। इसी तरह कोशिकाओं के भी २ भाग होते हैं, (१) प्रोटोप्लाज्म, (२) कोशिका झिल्ली।

चेतना का क्रियात्मक आधार शरीर :

चित्त (mind) की दो अवस्थाएँ होती हैं। (१) निद्रा अवस्था, (२) जाग्रत अवस्था। चेतना होगी तभी मन के प्रमुख तीन कार्य संपन्न होते हैं। (१) अवगम (Perception), (२) वेदना अथवा भव (Feeling), (३) प्रतिक्रिया (Action)।

चेतना दो प्रकार की होती है। (१) बाह्य चेतना, (२) अंतःचेतना। बाह्य चेतना का आधार ज्ञानेंद्रिय है। प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय भौतिक ऊर्जा को तांत्रिक आवेग में तब्दील करने का काम करता है। योगी का ध्यान अंतःचेतना की अवस्था है। कभी कभी हम शोकमग्न

होते हैं। इसलिए हमारी बाह्य चेतना लुप्त हो जाती है। उस वक्त केवल अंतःचेतना विद्यमान होती है। इस चेतना का आधार संचित स्मृति है। ज्ञानेंद्रियों का इसमें सहभाग नहीं होता।

वेदना (Feeling): सुख दुख के लिए मनोविज्ञान में भाव शब्द व्यवहार में मौजूद है। किन्तु तथागत बुद्ध ने प्रयोग में लाये वेदना शब्द को व्यवहार में लाना ज्यादा उचित माना गया, यह भाव से अधिक सार्थक शब्द है। वेदना तीन है, सुख, दुख और असुख-अदुख, वेदना की अनुभूति प्राणियों की पहचान है। वेदना के बगैर कोई भी प्राणी नहीं हो सकता। अमीबा समान एककोशीय जीव में भी वेदना होती है।

पुनर्जन्म आत्मा का नहीं, चित्त का होता है: चैतसिक कण (Psychic particle) ही चित्त है। यह दो प्रकार के होता है। (१) द्रवमानरहित चैतसिक कण और (२) द्रवमानयुक्त चैतसिक कण। राग, द्वेषरहित केवल मोहयुक्त चैतसिक कण हो सकता है। परंतु ऐसे आवेश से युक्त कण द्रवमान के अलावा हो नहीं सकते, उसी प्रकार राग और द्वेष से युक्त चैतसिक कण बिना मोह के नहीं हो सकते।

दो प्रकार के चित्त के कार्य भिन्न भिन्न हैं :

चैतसिक फोटॉन (Psychic Photon) : इसी चित्त का जड़ पदार्थ के साथ संयोग होता है। इसलिए इस वर्ण का चित्त पुनर्जन्म लेने वाला चित्त है। एक प्राणी अपनी चेतना को मृत्यु के समय च्युती-चित्त में तब्दील करता है। इस च्युतीचित्त के तरंग वे नहीं होते हैं जो पूर्व प्राणी के थे। इसी तरह मृत्यु के समय प्रत्येक जीव वह चैतसिक फोटॉन बदलता है। इसलिए चित्त भी नित्य नहीं। चित्त जीवनधारणा गर्भाशय में होने तक ही जिंदा होता है और जीवन धारणा हो गई तो वह चित्त मृत हो जाता है। मनुष्य के मृत्यु के वक्त दूसरा नया चित्त बनता है और वे कण के रूप में शरीर के बाहर निकल जाते हैं। किन्तु विज्ञान तो पल पल बदलता ही रहता है। शरीर के बाहर निकल जाने पर

वह चित्त तरंग रूप धारण करता है।

चित्त एक अभौतिक कण है। जो चैतसिक ऊर्जा से बना हुआ है। चैतसिक ऊर्जा, एक विशिष्ट प्रकार की ऊर्जा है। जिसमें वेदना की अनुभूति करने की क्षमता होती है। यही चैतसिक ऊर्जा विज्ञान धातु है।

च्युतीचित्त क्या है? : प्राणी के मृत्यु समय में शरीर त्यागते वक्त जो चित्त निर्माण होता है उसे च्युतीचित्त कहते हैं। यह भौतिक फोटॉन के समरूप होता है। शरीर त्यागते वक्त और दूसरा शरीर धारण करते वक्त च्युतीचित्त तरंग का रूप धारण करता है। उसका वेग प्रकाश के वेग जितना (१ सेकंद में ३ लाख किलोमीटर) होता है। उसका कारण शुक्राणु और अंडाणु के मिलन के वक्त उसे मिलना चाहिये। इसलिए इस चित्त को गंधर्व (नाचता हुआ) चित्त कहते हैं। यह चैतसिक तरंग चित्त है।

च्युतीचित्त अर्थात् गंधर्व चित्त के अंडाणु और शुक्राणु के साथ जब मिलन होता है, तब उसे संधीचित्त कहते हैं और इस मिलन के क्रिया को निषेचन (Fertilization) कहते हैं। **निषेचन ही पुनर्जन्म है।** इसी को भव कहते हैं। यह याद रखना चाहिये की, तथागत बुद्ध के ज्ञान अनुसार (बुद्ध सिद्धान्तनुसार) चित्त

(विशिष्ट हालात), शुक्राणु और अंडाणु (डिम्ब) का संयोग (Union), मिलन, एकात्मकता, संगलन (Fusion) को ही निषेचन कहते हैं, ना की केवल शुक्राणु और अंडाणु का संयोग।

चित्त का जन्म ही पुनर्जन्म है और बालक का जन्म ही सिर्फ जन्म है, वह बालक का पुनर्जन्म नहीं है।

इस तरह तथागत बुद्ध के सिद्धांत अनुसार वैज्ञानिकों ने उनके ही मार्गदर्शक तत्त्वों से संशोधन किये और वह बिलकुल सच सिद्ध हुये। 'ब्रह्मांड की और जीव उत्पत्ति' यह किसी भी ईश्वरवादी धर्म के ईश्वर ने नहीं की बल्कि वह इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन इन तीन कणों से हुई और ये तीनों कण ऊर्जा के ही घटक हैं। क्योंकि ऊर्जा मूलतः अविनाशी है। सृष्टि का प्रलय होनेपर अस्तित्व में रही शेष ऊर्जा से फिर सृष्टि निर्माण होगी ही। इसलिए आत्मा और ईश्वर, जनता को अंधश्रद्धा में डुबोकर अपना लाभ करने के लिए ही कल्पना से निर्माण की है, इतना ध्यान में रखा तो भी मनुष्य जीवन सुखी होने में मदद होगी।

अनुवाद - प्रतिभा

इतिहास का विकृतिकरण जारी है

-प्रा. विलास खरात,

डायरेक्टर,

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर रिसर्च सेंटर,

नई दिल्ली

समाजवादी ब्राह्मण आस्तिन के साँप है यह बात अब नये सिरे से सामने आई है। समाजवादी ब्राह्मणों ने सबसे बड़ा अगर कोई पातक किया है तो वह है छत्रपति के इतिहास को विकृत करने का; उसे कलंकित करने का। उनमें से एक प्रा.नरहर कुरुंदकर है। नरहर कुरुंदकर ने फुले-शाहू-अम्बेडकर पर जिस तरह विकृत लेखन किया है उसी तरह छत्रपति शिवाजी महाराज व छत्रपति संभाजी महाराज पर भी किया है। साठ के दशक में वा.सी.बेंद्रे नाम के कायस्थ संशोधक ने संभाजी महाराज पर अस्सल दस्तावेज पर आधारित शोध ग्रंथ की रचना की। इसलिए समस्त ब्राह्मण मंडली के पेट में शूल उमड़ने लगा। इस ग्रंथ से संभाजी महाराज पर जो-जो घटिया दर्जे के आरोप लगाये थे वे सारे के सारे खारिज हो गये। उल्टे तत्त्वज्ञानी संभाजी महाराज, महापराक्रमी, शीलवान, कर्तृत्ववान, संस्कृत विद्वान, धुरंदर, दूरदृष्टियुक्त, बहुजन प्रतिपालक, बुद्धिमानी और राजनीति की गहराई से समझ रखनेवाला इन सारे गुणों से संभाजी महाराज ऐतिहासिक दस्तावेजों के साथ जनता समक्ष आने से ब्राह्मणवादियों का खून खौल रहा है। इसलिए वसंत कानेटकर ने प्रतिक्रिया देते हुये संभाजी राजा को बदनाम करने के लिए 'रायगडाला जेव्हा जाग येतो' (मराठी) नाम का नाटक की रचना की और ब्राह्मणवादियों ने वह नाटक रंगमंच पर प्रदर्शित कर, पाठ्यपुस्तक में मुद्रित करके संभाजी राजा को बदनाम करने का काम जारी रखा। उस वक्त नरहर कुरुंदकर इस समाजवादी ब्राह्मणों ने झूठे उपन्यास लिखवाकर उन्हें बढ़ावा देने हेतु प्रस्तावना लिख दी। कथा-उपन्यास द्वारा बदनामी सत्र शुरु हो गया।

बेंद्रे की किताब आने के बाद कुरुंदकरने 'बेंद्रे यांचा संभाजी' इस शीर्षक का ३९ पन्नों का मराठी में

दीर्घ लेख लिखकर अपने पेट का विकार प्रदर्शित किया। कुरुंदकर का वह लेख 'मागोवा' नाम के किताब में प्रकाशित किया है। १९६७ में उसका प्रथम संस्करण एवं २००७ को दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। सम्बन्धीत किताब देशमुख और कंपनी ने प्रकाशित की है। उस किताब में बेहद बदनामीकारक सामग्री छपकर आयी है।

नरहर कुरुंदकर ने संभाजी राजा को भोला-भाला, दिलदार, व्यथित, आत्मघातकी से संबोधित किया एवं पिता के विरोधी संभाजी इस तरह वर्णन करके छत्रपति शिवाजी महाराज का भी अपमान किया है। चरित्रवान, निष्कलंक पिता-पुत्र अर्थात शिवाजी महाराज व संभाजी महाराज ऐतिहासिक दस्तावेज के आधारपर सिद्ध होने से कुरुंदकर को लहर आ गई और उन्होंने छत्रपति शिवाजी महाराज व संभाजी महाराज का चरित्र हनन कर दिया! छत्रपति शिवाजी महाराज व संभाजी महाराज ये दोनों ही औरंगजेब की कन्या से प्रेम करते थे इस तरह की किवदंतियाँ कुरुंदकर ने प्रस्तुत की है। उनकी ही भाषा में **“औरंगजेब की एक कन्या शिवाजी की प्रेमिका थी, ऐसा प्रवाद है। दूसरी ने संभाजी से प्रेम किया ऐसा भी कहा जाता है। संभाजी ने औरंगजेब को कन्या का हाथ माँगा था, ऐसा बखरकार कहते हैं। फिर एकबार औरंगजेब की कन्याओं को जाँचना चाहिये।”**(मागोवा-पृष्ठ ९३)। इस तरह ५४-५५ सालों पहले नरहर कुरुंदकर ने बहुजनों के नायक और प्रेरणा बने महापुरुषों पर किचड़ उछालने का काम किया है। वह घटना अथवा लेखन उस काल तक ही रहा नहीं तो सदाशिव पेट में

देशमुख एवं कंपनी की ओर से वह किताब फिर से छपकर उस बदनामी से कैसे कमाये जा रहे हैं। उन ग्रंथों का संदर्भ लेकर ब्राह्मण मंडली पेट भरने का काम कर रही है। इसलिए ऊपर निर्दिष्ट ग्रंथ जेम्स लेन की बदनामीकारक किताब से भी बेहद बुरी है। उसका निषेध करना चाहिये यही हमारी भूमिका है।

औरंगजेब को पाँच कन्याएँ थीं। तीन कन्याओं का विवाह हो गया था। दो कन्याएँ कुवारी थीं। एक कन्या का संभाजी महाराज के साथ सम्बन्ध दर्शाये जा रहा है वह कन्या इतनी बड़ी थी की वह माता समान हो। जियतुन्नीया की उम्र ४६ साल थी। कुरुंदकर ने व्हेग पद्धति से 'कहा गया है' ऐसा लिखकर अपने मन का पाप प्रदर्शित किया है। नरहर कुरुंदकर षड्यंत्रकारी ब्राह्मण थे। उनके संशोधन तले विचारों को तोड़मरोड़ या झूठ को सच साबित करने का प्रचार करने का धंदा किया गया था। छत्रपति शिवाजी महाराज और संभाजी महाराज का चरित्र हनन किया इसका कुरुंदकर को जरा भी पछतावा नहीं हुआ। तत्कालीन मराठों का नेतृत्व करने में अग्रेसर हुये यशवंतराव चव्हाण या शरद पवार ने भी कुरुंदकर को जवाब नहीं पूछा।

सच्चा संभाजी राजा जनता समक्ष प्रस्तुत होने से कुरुंदकर के पैरों तले जमीन खिसक गई। मन से आग उगलने लगे। इतना ही नहीं संभाजी राजा चरित्रवान थे इस बात का कुरुंदकर को भयंकर गुस्सा भी आया। संभाजी राजा के १६० सालों बाद ब्राह्मण मंडली ने झूठी बखर लिख डाली। समकालीन दस्तावेज ना होने से उन्हें ऐतिहासिक साधन नहीं माना जा सकता। किन्तु कुरुंदकर की जिद है की बखर को साधन माना जाना चाहिये। (जैसे आज आर.एस.एस. कहती है कि, पुराणों को इतिहास मानना चाहिए-संपादक) इसका अर्थ बखर में जो बदनामी है उसे ही इतिहास माने किन्तु असल दस्तावेज जो बेंद्र ने लंदन में जाकर प्राप्त किये थे उन्हें ना माने यह कुरुंदकर की जिद है!

इससे कुरुंदकर की काबीलियत नजर आती है। कुरुंदकर और सेतूमाधव पगडी, राजवाडे, सरदेसाई इस मंडली ने संभाजी महाराज के खिलाफ अष्टमंडल था यह देखकर उन ब्राह्मण इतिहासकारों ने ब्राह्मण मंत्रिमंडल विरुद्ध संभाजी महाराज यह सच्चा इतिहास ना मानते हुये संभाजी महाराज विरुद्ध सोयराबाई यह मिथ्या इतिहास तराशा है। कुरुंदकर की तो पृष्ठ ८७ पर यहाँ तक मजल गई की, सोयराबाई ने संभाजी राजा से तंग आकर ही खुदकुशी कर ली यह लिखा है। अब देखिये, यह कुरुंदकर महाशय नांदेड में पैदा हुये थे। किन्तु जैसे उसके बापजादा ने रायगड पर क्या चल रहा था यह आँखों से देखकर गलत तरह से प्रस्तुत किया था, मिथ्या इतिहास लिखते हुये अथवा चरित्रहनन करते हुये कुरुंदकर को जरा भी लज्जा नहीं आई। शिवाजी महाराज विदेशी मुगल के विरोध में जिंदगीभर लड़ते रहे ऐसा एक तरफ कहना और दूसरी तरफ संभाजी महाराज मुगलों के हस्तक थे यह वर्णन करना इसे क्या कहा जाय? संभाजी राजा का द्वेष करने का कारण क्या है? उसका कारण ब्राह्मणों ने षड्यंत्रपूर्वक संभाजी महाराज की हत्या का प्रयास किया था उस आधार पर कुरुंदकर व अन्य भटमंडली छत्रपति संभाजी महाराज की छबी खराब करने का काम कर रही है।

संभाजी महाराज तत्त्वज्ञानी थे, विद्वान थे, स्वाभिमानी थे। पिता-पुत्र ने जिंदगीभर किसी के आगे सिर नहीं झुकाया यह वर्णन जिस तरह बेंद्र ने किया उसका विरोध में आग उगलने का काम कुरुंदकर ने किया। शिवाजी महाराज किस तरह ब्राह्मण अनुकूल थे यह भी दिखाने का प्रयास किया गया। बेंद्र ने छत्रपति शिवाजी महाराज का वह राज्यादेश सबूत के तौर पर सादर किया जिसमें शिवाजी महाराज ने कहा- "ब्राह्मण कहकर मुलाहिजा नहीं किया जायेगा" इस विधानपर तो कुरुंदकर बेहद क्रोध व्यक्त करते है। ब्राह्मण मंत्रिमंडल संभाजी महाराज व शिवाजी महाराज को किस तरह विरोध करते थे यह बेंद्र ने अस्सल

दस्तावेज के आधार पर प्रस्तुत करने से कुरंदकर ने और भी ज्यादा ऐड़ी चोटी का जोर लगाया। कुरंदकर ने बखर का आधार देकर संभाजी महाराज को चारित्र्यहीन किस तरह है और बेंद्रे जो संभाजी जनता समक्ष प्रस्तुत कर रहे है वह कितना झूठा है यह साबित करने के लिए कोई भी कसर नहीं छोडी। जैसे- **“कहा जाता है की, वह (संभाजी) मुख्यमंत्री की कन्या से व्यभिचारार्थ चौकीपहारा लांघकर जाते थे।(पृष्ठ १०२)”** मनुची के नामतले कुरंदकर आगे बकते है- **“लोगों की पत्नियों पर बदनजर रखने वाले संभाजी के अंमलदार उनसे बेहद नाराज थे। शत्रू से सामना करने की जरूरत के समय दूसरों की पत्नियों से गैरवर्तन करने की उसे जो आदत थी वह जाने को तैयार नहीं थी। इसलिए वह अपने स्वातंत्र्य व प्राण को खो बैठा।** इस जिक्र का अर्थ संभाजी व्यभिचारी, बदफैली था ऐसा नहीं है। वह केवल विलासी व रंगेल हो सकता है। समकालीनों ने भी संभाजी पर इसी तरह की छींटाकशी की है। मुगल विलासी होकर भी उस बाबत कोई भी गंभीरता से जिक्र नहीं करते। संभाजी का जिक्र होता है, इसका कारण संभाजी पितासमान सत्पुरुष नहीं था, अपने दादासमान विलासी था यह भी हो सकता है। किन्तु इस बाबत उत्तम मार्ग संभाजी की युद्धकला, कुशल राजनीतिज्ञता, कहकर चुप बैठना है। उसे संत कहना उपलब्ध सबूतों के आधार पर ठीक नहीं।” (मागोवा, पृष्ठ १०३)। इस तरह का लेखन कुरंदकर करते है। संभाजी राजा पर अस्सल दस्तावेज बेंद्रे ने देस परदेस से खोजकर ब्राह्मणों के नाक में दम कर दिया। यह देखकर कुरंदकर के दिमाग पर पेशवाई हावी हो गई और जबान पर लगाम न रही! संभाजी राजा, छत्रपति शिवाजी महाराज और संभाजी राजा के दादाजी अर्थात शहाजी राजा को भी बदफैली घोषित करने का काम कुरंदकर नाम के समाजवादी ब्राह्मण ने किया है। इसका खुलेआम निषेध करना चाहिये और सरकार ने उस मनोविकृत लेखन की

किताब पर तुरंत बंदी जाहिर करनी चाहिये।

संभाजी महाराज संस्कृत पंडित थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य की रचना की ऐसा बेंद्रे ने जब उनके ग्रंथ में प्रस्तुत किया तब कुरंदकर बेहद क्रोधित हुये। कुरंदकर को शायद यह लगा होगा की, ब्राह्मणों का बाप ब्रह्माने शूद्र को संस्कृत ग्रहण करने पर बंदी लादी थी किन्तु उनमें से भी कर्तबगार लोगों ने ब्राह्मणों के सारे षड्यंत्र खुले कर दिये। संभाजी राजा संस्कृत पंडित व ज्ञानी थे यह सिद्ध हो गया तो बहुजन समाज संभाजी महाराज को बदनाम करनेवाले ब्राह्मणों को कैसे छोड़ेंगे? इस भय से कुरंदकर के बदन में सम्पूर्ण सदाशिवपेठी ब्राह्मणों का बल आ गया और वे तिलमिलाने लगे। कुरंदकर क्या कहते है देखे- **“बुद्धभूषणम इस नाम का त्रुटीयुक्त संस्कृत प्रकरण उपलब्ध हो गया और बेंद्रे ने संभाजी को संस्कृत, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र का ज्ञाता मान लिया। नववे, दसवें सालों से राजनीति की व्यस्तता में इस राजपुत्र को काव्यशास्त्र का अध्ययन करने के लिए वक्त कहाँ से मिला होगा, इसके बारे में सोचने की बेंद्रे को जरूरत महसूस नहीं हुई, राजाराम तो छोड़िये, ताराबाई के मन में संभाजी व शाहू से प्रेम था यह बेंद्रे का दाँवा है। संभाजी दयालु, येसूबाई, राजाराम, ताराबाई, शाहू ये सारी मंडली दयालु, फिर मक्कार कौन? तो शिवाजी के मंत्री व ताराबाई के प्रबन्धक। यह भूमिका इतिहासकार को शोभा नहीं देती।”**(मागोवा, पृष्ठ १०३) कुरंदकर का दाँवा है की, संभाजी दुनिया के सबसे बुरे शख्स है यह मानकर इतिहासकारों ने लिखाण करना चाहिये! बेंद्रे समान बहुजन व्यक्ति ने जागतिक स्तरपर मूल दस्तावेज खोजकर यदि सादर भी किया तब भी संभाजी ऐसा कैसे हो सकता है? ब्राह्मणों ने लिखे हुये इतिहासपर संदेह करना सबसे बड़ा पातक है यह कुरंदकर का निवेदन है। कुरंदकर कम पढ़े लिखे गृहस्था। उनकी शैक्षणिक योग्यता इतनी ढह चुकी थी और इतिहास सम्बन्धी उन्हें जरा भी ज्ञान नहीं था यह उनके सम्पूर्ण

लेखन से स्पष्ट होता है। कुरुंदकर का क्रोध महज संभाजी राजा पर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण छत्रपति घराने पर है। इसलिए वे क्रोध से कहते हैं की, यदि संभाजी अच्छा है फिर मक्कार कौन? पेशवे? अर्थात् कुरुंदकर सबूतों के आधार पर इतिहास लेखन नहीं करते तो जाति के आधार पर करते हैं। पेशवे और उनकी बदफैली कृत्य की वकालत करना और ऊपर से शेखी बघारना की हम प्रकांड पण्डित हैं!

मराठों, बहुजनों यही वे कुरुंदकर महाशय हैं जिन्होंने नामांतरण के नामपर मराठों के दिमाग में अनुसूचित जाति के विरोध में जहर के बीज बो दिये और मराठवाडा में जातिय दंगल भडकाया थी। इतनाही नहीं तो जिन ओबीसी-मराठा जाति व अनुसूचित जाति में सामाजिक धृवीकरण हो रहा था, जिसकी वजह से ब्राह्मणशाही नष्ट हो रही थी यह देखकर पूना के समाजवादी ब्राह्मणों ने योजना बनाकर छल से महाराष्ट्र में प्रतिक्रांति के बहाने जातिय दंगल भडकाने के लिए नामांतरण को हाथियार के तौर पर इस्तेमाल किया। अब कुरुंदकर यह इन्सान सम्पूर्ण प्रकरण में अग्रस्थान में थे तो फिर वह किस स्तर के और किस लायक व्यक्ति थे यह जरा आँखें खोलकर देखना

होगा और ध्यान में रखना होगा कि जो तथाकथित ब्राह्मणी इतिहास पर निर्भर रहेगा उसका का बेड़ा गर्क ही होगा। कुरुंदकर के साहित्यपर बंदी लाने की माँग जोर पकड़ रही है। कांग्रेस व राष्ट्रवादी कांग्रेस में लाचार बनकर काम करनेवाले मराठे विधानसभा चुनाव के वक्त कुरुंदकर की बाजू में खड़े थे। ब्राह्मणों को खुश करके सत्ता प्राप्त होगी इसी आशा पर वे सत्ता की लार टपका रहे थे। पृथ्वीराज चव्हाण और अशोक चव्हाण ने तो सरकारी तिजोरी से पाँच करोड़ रुपये नांदे में नरहर कुरुंदकर के नाम से स्मारक बनाने हेतु दिये। इसे कहते हैं मराठों पर लादा गया पूना पैकट! जिन ब्राह्मणों ने छत्रपति व छत्रपति के घराने को बदनाम किया उस ब्राह्मण को मृत्यूपश्चात यह सम्मान हांसिल होता है तो महाराष्ट्र में कांग्रेस, राष्ट्रवादी कांग्रेस का सरकार, सेना-भापज का सरकार आये वे पेशवाईतुल्य ही होगा! इस प्रकार के पेशवाई को और इतिहास, वाङ्मय, पाठ्यपुस्तक मंडल की घुसपैठी पिस्सुवाई को बाहर करने के लिए पहले खुद का मस्तक फुले-अम्बेडकरी विचारधारा से शुद्ध करना चाहिये।

(अनुवाद-प्रतिभा)

माली समाज की उत्पत्ति, उन्नति और पतन का इतिहास

-अरविंद माली

मो. ०९४२२८३११६६

माली समाज की उत्पत्ति और विकास का इतिहास जानने के पहले हमें एक बात ठीक से समझ लेना चाहिये की समाज का मतलब जात से नहीं है। इतिहास की जानकारी न रखने के कारण आज के पढ़े लिखे लोग भी समाज और जाति को समान रूप में, या एक ही सिक्के के दो पहलू समझते हैं। लेकिन समाज और जाति यह दोनों अलग अलग संकल्पना तथा अवस्थायें हैं; उनकी निर्मिती के स्रोत बिल्कुल अलग है। समाज की निर्मिती यह एक नैसर्गिक और सांस्कृतिक उत्क्रांत अवस्था है। जब की जाति यह धर्म द्वारा जबरन निर्मित किया गया सामाजिक विभाजन है। याने सामाजिक ढाँचा को बनाये रखने के लिय जाति यह एक तैयार किया गया साँचा है। इसलिये यह दोनों अवस्थायें ऐतिहासिक क्रमसे जान लेना जरूरी है।

माली समाज की उत्पत्ति कहाँ से हुयी यह जानने के पहले हमें इस भूमिपर मानव समाज की रचना तथा उसका आकार कैसे साकार हुआ, याने उसके उत्क्रांती का इतिहास मालुम करना होगा। विश्व उत्पत्ति के बारे में जाननेवाले संशोधकों ने कहा है, यह अपनी धरती-माँ करोड़ों साल पहले सूर्य से अलग होकर जब थंडी हुयी तब यहा अन्य प्राणियों के जैसे मनुष्य प्राणी भी निर्माण हुये। लाखों साल वे जानवरों जैसे ही भटकते रहे; लेकिन प्रकृति के द्वारा उसे एक अद्भूत शक्ति (बुद्धि द्वारा विचार और चिंतन करने की शक्ति तथा बोलने की वाणी) मिलने के कारण वो दूसरें जानवरों से अलग हो गये। हिंस्र प्राणियों से अपनी रक्षा करने के लिए वे समुह में रहने लगे। साथ-साथ वे उनका शिकार भी करने लगे। इस अवस्था में उसने हजारों साल बिताये। बाद में अपने कबीले बनाकर रहने लगे। अपनी आवश्यकताओं के लिये भटकने में उनकी सैकड़ों पीढ़िया बीत गयीं। आगे उनकी संख्या बढ़ने

के कारण कई टोलियाँ निर्माण हुयी; तब उन्होंने अपनी पहचान रखने के लिये कई प्रतीक चिन्हों की निर्मिती की। उसे आज लोग टोटेम कहते है।

आदमी अपनी टोलियों के साथ जब समूह में रहता था तब उसका अपना कोई नाम नहीं था। वह अपनी पहचान उस टोटेम से कराता था जिस टोली में वो रहता था। उस प्रतीक चिन्ह को वो पहचान के लिये अपने शरीर पर गोंद देता था। अपनी अपनी टोलियों की चाहत तथा पसंद के अनुसार पेड़, पशु, पक्षियों के नाम से टोटेम बनाकर वे अपनी टोली की पहचान रखने लगे। आगे वही चिन्ह उनके कुल प्रतिक बन गये, गोत्र बन गये। उस प्रतीक के साथ उनकी आस्था, भावनाएँ तथा श्रद्धा जुड़ती चली गयी। भारत का सांस्कृतिक इतिहास ऐसे कुल प्रतीकों से भरा और समृद्ध हुआ है। अपने देश में नाग (साप), वृषभ (बैल) मातंग (हत्ती) मत्स्य, कछुआ, जटायू, वानर, मृषक (चुहा), ससा ऐसे कई प्रतीकों की टोलियाँ रहती थी। ये सारी टोलियाँ जीने के लिय भटकते-भटकते, हजारों साल प्रकृति के साथ संघर्ष करते करते जब उन्हें खेती का शोध लगा तब वह अच्छी खेती योग्य सपाट भूमि देखकर स्थायी हो गया।

जीने के लिय प्रकृति के साथ संघर्ष करते करते कुछ टोलिया अपने वर्चस्व के लिये एक दूसरे के साथ लड़ती रही। कुछ व्यक्तिगत लाभ के लिये अपने ही टोली के लोग आपस में लड़कर नष्ट होते गये। किसी ने दूसरे अच्छे टोली के साथ दोस्ती, समझौता किया, इसलिये उनके कुल प्रतिक गायब हो गये। कुछ टोली के लोग पशु जैसे केवल खाने और सोने के लिये जिंदा रहे वे इतिहास में गायब हो गये; और खास करके जो सक्षम, बुद्धिमान तथा सबसे ताकतवर थे

अस्तित्व में रहे। उन्होंने इतिहास निर्माण किया। उनकी पहचान, उनके कुल प्रतिक चिन्ह कायम रहे। आगे चलकर उन्होंने नया इतिहास बनाया वे अजरामर हो गये वही भारतीय मूल नाग लोग कहलाने लगे आगे उनके नाग टोटेम के कारण उन्हें नागवंशी कहकर दुनिया से पहचान मिली।

अंग्रेजों ने अपने देश की पहचान सिंधु सभ्यता, सिंधु संस्कृति के नाम से दुनिया में की है, लेकिन सिंधु ये नाम प्रदेशवाचक है जहा से सभ्यता उन्हे दिखाई दी। उस सिंधु सभ्यता के निर्माते भारत के मूल नाग लोग थे। अपने पूरे भारत देश में नाग संस्कृति; जिसे आज सिंधु सभ्यता कहते हैं, आज भी गुफाओं में, शिल्पो में जीवित है। नाग संस्कृति में शेषनाग का इतिहास मिलता है। शेषनाग एक महान, आदर्श राजा था; जो बाद में महान तपस्वी तथा विचारक बनकर 'शिव' हो गया। 'शिव' का मतलब होता है, ईश्वर स्वरूप सत्य की खोज करनेवाला। यही शेष, शिव, अनंत नाग है, जिसने प्रकृति के अध्ययन के साथ मनुष्य की बुद्धि तथा शरीर में घटित क्रिया, प्रतिक्रिया, और आंतरक्रिया का अभ्यास करके उसे उत्कृष्ट जीवन जीने की कला विकसीत की थी। उसी योग दर्शन द्वारा मानव, समाज तथा सारे संसार का कल्याण साधने का तत्वज्ञान विकसीत हुआ था। संपूर्ण भारत में उसे 'सत्यम शिवम् सुंदरम्' के नाम से पहचान थी। उसे नागदर्शन या शिव संस्कृति के नाम से भी जाना जाता था। चार हजार साल पहले संपूर्ण भारत में अनेक नाग राजा राज करते थे। राजपाट चलाने के लिये पूर्ण भारत को पांच खंडों में विभाजित कर एकही शेषनाग के विचारों से राजपाट चलता था। इसलिये पाँच फनवाला नाग (नागपंचमी को पाँच फनवाला नाग टोटेम की पूजा उनका आदर करने के लिये होती थी। उनका कुल प्रतिक बन गया था। (आज भी कई मंदिरों में मूर्तियों पर पाँच फन वाला नाग हम देखते हैं, लेकिन वास्तव में धरती पर वो कहीं पर भी नहीं मिलता)।

शेषनाग (शिव को) ही नागाधिपती मानकर उसके सिर पर पृथ्वी का भार है ऐसी कहावत प्रसिद्ध थी। माली समाज वही 'शिव' के (शिवमाली) वंशज है। ईराणी आर्यों के आतंकी हमले में तथा छल कपट से धोके में यहां के कई राजाओं को मारा गया। रामायण की कथा में तथा हनुमान की आरती में जम्बोमाली को मारने की बात कही है। वो माली समाज का राजा था। तब (आर्यों के आने के पहले) भारत देश के उपर के पूरे प्रदेश को जम्बोद्वीप नाम से ही जाना जाता था।

नागवंशी लोग जब स्थायी शांति से रहने लगे तब उनकी विचार करने की और चिंतन करने की शक्ति में भी तेजी आयी। आपस में वार्तालाप करके प्रकृति में घटित घटनाओं पर चर्चा होती रही। आकाश, बादल, बिजली, बारिश आदि पर तर्क वितर्क करने लगे, अनुमान और अंदाज करने लगे। नये-नये खोज करते रहे और उसी में से कुछ बुद्धिमान लोगों ने (बारीश के पानी के अलावा) जमीन और उसके अंदर (कुओंके) पानी से खेती करने का तंत्र ढूँढ निकाला। उन्होंने ऊपर के पानी से कोरडवाहू खेती के साथ-साथ जमीन के ऊपर का पानी का उपयोग कर सालभर सब्जी के माळवे और फल, फुलों के बाग लगाना शुरु किया। उन्हीं लोगों को आगे चलकर 'माली' समाज के नाम से संबोधन होने लगा। माली समाज का आगे का इतिहास जानने के पहले, माली शब्द का सांस्कृतिक तथा शब्दार्थ क्या है यह समझना जरूरी है। 'माली' शब्द का मूल अर्थ है, परिश्रम कर खेती करना। जमीन को मुलायम और ऊपजाउ बनाकर खेती करना। जमीन को मुलायक और उपजाऊ बनाकर उन्नति करना। माली शब्द का सांस्कृतिक अर्थ है, सोच विचार कर अभ्यास करना, चिंतन करना, सभ्य बनना, सांस्कृतिक विकास करना और उन्नति करना। आगे कल्टीवेटर से ही कलचर (Culture of mind) शब्द निकल कर (derived) आया है।

मनुष्य और उनके द्वारा निर्मित समाज के उत्क्रांती

का इतिहास को ठीक से समझने से हमें तीन तरह के लोग (गुण कर्म और स्वभाव से) दिखाई देते हैं।

(१) प्रतिगामी स्वभाव वाले

(२) परंपरावादी स्वभाव वाले।

(३) प्रगतिशील स्वभाव वाले

मूलरूप से माली समाज यह तिसरे प्रकार में जीने वाला प्रगतिशील 'विचार और सोच' रखनेवाला समाज था। सतत नया-नया करते रहने और अपने स्वभाव तथा कठोर परिश्रम करने की प्रवृत्ति के कारण माली समाज ने कृषि उत्पादन और व्यवसाय में अपने जरूरत से जादा बढ़ोत्तरी की थी। उसका परिणाम यह हुआ कि, कुछ लोगों को अर्जित फुरसत मिली। तेज बुद्धि के लोगों ने उसका लाभ लेकर अपनी शक्ति नयी-नयी खोज और संशोधनों में लगा दी और उस का परिणाम यह हुआ कि, पाषाण युग में जीनेवाले भारतीय समाज ने लौह युग में पदार्पण किया। यह काल आज से चार-पाँच हजार साल पहले का था। लौह युग में पहुँचते ही माली समाज के लोगों ने अपनी नाग संस्कृति के इतिहास को और आगे बढ़ाया। सबसे पहले उन्होंने हल बनाकर जगह-जगह हल जोतकर खेती विकसित की। दूसरा महत्वपूर्ण काम बारिश के पानी को बांध बनाकर रोककर अपने खेतों तक ले जाने का काम किया। आज हम चित्रों में भगवान शिव की जटा से जो गंगा निकलते हुए देखते हैं वो वास्तविक गंगा या कोई चमत्कार नहीं है। वो शेषनाग राजा (शिव) के दिमाग से निकला नहर संकल्पना का प्रतीक मात्र है। नदी पर बांध बांधकर पानी जहाँ चाहिये वहाँ ले जाने की तरकीब नाग लोगों ने भारतीय इतिहास में पहली बार साकार की थी। उस महाप्रयास को पूरा करने वाले 'भगीरथ माली' थे इसलिये उस परिकल्पना को 'भगीरथ प्रयत्न' के नाम से जाना जाता था। ईराणी आर्यों ने आतंकी हमले कराकर उनके बांध तोड़ने का इतिहास ऋग्वेद में मिलता है। हल चलाना खेती करना और बांध बनाकर पानी

इकट्ठा करने का परिणाम यह हुआ की नाग लोगों को उनकी जरूरत से ज्यादा उत्पादन होने लगा। सबको खेती करने की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने अपने श्रम को दूसरे महान कार्यों में झोंक दिया। उन्होंने शिल्पकला विकसित कर गुफायें और किले तथा उत्कृष्ट बांधकाम कर के बड़े-बड़े भवन बनाये। उत्कृष्ट नमूने बनाकर (स्थापत्य कला) नगर रचना का कार्य किया। अंग्रेजों ने पुरातत्व विभाग द्वारा उत्खनन कर के नागों की नगर रचना मोहनजोदाडो और हडप्पा का जलनिकासी पद्धति देखकर बहुत आश्चर्य व्यक्त किया था। यह वही नाग सभ्यता थी जिस पर आर्य ब्राह्मणों ने उनकी पहचान मिटाने के लिये सिंधु सभ्यता (प्रदेश का नाम देकर) कहकर इतिहास पर परदा डाल दिया।

प्रगतिवादी विचार रखनेवाले माली समाज से ही आगे चलकर अन्य समाजों का निर्माण होता गया। नाग लोगों ने बड़े-बड़े नगर बसाकर अपने गणराज्यों का निर्माण किया। आगे उन्होंने अपनी नागरी लिपि तैयार की और मोजमाप करने के लिये संख्या शास्त्र को भी विकसित किया। कुछ राज्य में धातुशास्त्र का अविष्कार करके अपने सिक्के भी बनाये। वे अपने सिक्के को 'नग' (नागवंश से) कहा करते थे। जंबोद्वीप (भारत) में रहने वाले ये नागलोग पराक्रमी तो थे ही, साथ ही वे सत्य की खोज करने वाले थे और वास्तववादी जीवन जीने वाले थे। अपने राज्य के सभी लोगों पर प्रेम और समानता का व्यवहार करने वाले थे। इसी कारण उनमें सामुहिक श्रमभावना विकसित हुयी और इसी कारण उन्होंने जल्द ही बहुत प्रगति की थी। नाग लोगों ने अपनी संस्कृति (जीवनमान) और सभ्यता (जीवनशैली) उच्च दर्जे की निर्माण की थी। लेकिन उन्होंने आज के जैसा कोई भी धर्म निर्माण नहीं किया था। परंतु अपने समाज तथा राज्य का नियमन और नियंत्रण तथा मनुष्य का सामाजिकरण करने के लिये शाक्त पंथ की निर्मिती की थीं नाग लोग प्रकृती पूजक थे। वे प्रकृती का आभार तथा

आदर (पशु, पक्षी, पेड़) व्यक्त करने के लिए उत्सव मनाते थे और उसका संवर्धन करते थे। लेकिन किसी भी काल्पनिक देवी देवता को मानकर पूजापाठ तथा आराधना नहीं करते थे। आस्तिक और नास्तिक यह क्या बला है उन्हें पता नहीं था। वो वास्तविकता और वर्तमान में जीते थे और विश्वास से ज्यादा विचार करना पसंद करते थे।

प्राकृतिक सुंदरता से परिपूर्ण अपने इस जम्बोद्वीप (भारत) में बारह महिने बहती नदियाँ थी, भरपूर उपजाऊ जमीन तथा प्रचंड मात्रा में जंगल थे। उसपर अपनी बुद्धि तथा कौशल्य को पूरा न्योछावर करके नाग लोगों ने अपनी सुंदर संस्कृति विकसित की थी। यह सब खुशहाली देखकर धूर्त लोगों की नियत तो खराब होनी ही थी; और वही हुआ। जब भारतीय मूल के लोग शांति से रह रहे थे, मध्य एशिया के खाड़ी देश के (ईराण, इराक, इजिप्त) भटके और आक्रमक लोगों ने घुसपैठ शुरू की। जब आमने-सामने लड़कर वे नागों से जीत नहीं सके, तब छलकपट से नाग राजाओं को मारकर आर्यों ने भारतीय जमीन पर कब्जा किया, और नाग लोगों के शिव संस्कृति को तहस-नहस कर दिया। नागों के प्रतीकों को अपमानित कर उसके इतिहास की पहचान मिटाने के लिये आर्यों ने वैदिक धर्म की स्थापना की। राजसत्ता को हमेशा के लिये अपने पास रखने के लिये आर्यों ने श्रमविभाजन कराकर भारतीय लोगों को ज्ञान सत्ता धन के अधिकार से हमेशा के लिये दूर रखा। ऋग्वेदिक संविधान बनाकर भारतीय मूल के नाग लोगों को शूद्र का दर्जा देकर सेवा के लिये मजबूर किया। जिन्होंने इस व्यवस्था का विरोध किया उनको कैदी बनाकर बहिष्कृत कर दिया। भविष्य में ये सारे शूद्र एक होकर कभी भी हमारी सत्ता ना छीन लें इस डर से आगे मनुस्मृती जैसे कठोर कानून बनाकर पूरे भारतिय लोगों को छोटै-छोटे जाति के टुकड़े में बाँटकर अलग करके उसे उँच-नीच बनाकर रखा गया। जाति-जाति में अलग करते रहने का काम

कई साल तक चलता रहा। उसी का परिणाम आज पूरा भारत देश ६००० प्रमुख जातियों में और ७६००० उपजातियों में बिखरा है। शूद्रों ने हमारे आर्य लोगों की सेवा हर समय करते रहनी चाहिये इसलिये अपनी वैदिक अर्थव्यवस्था को ही धर्म से जोड़कर उसे ईश्वर निर्मित घोषित किया और सनातन बनाकर रखा। तब से भारत देश के मूल नागलोग यहाँ सब कुछ होने के बावजूद दुःख और यातनाएँ भोग रहे हैं।

समाज शास्त्रियों ने कहा है, किसी भी समाज का विकास उस समाज के बुद्धिमान तथा कर्तृत्ववान व्यक्तियों के साहस और चाहत से होता है। भारतीय इतिहास के माली समाज में वो चाहत और हिम्मत थी। नाग संस्कृति में शिवमाली, भगिरथ माली, जम्बोमाली आदी ऐसे महान लोगों ने जन्म लिया, जिन्होंने अपनी बुद्धि और कर्तृत्व से भारत की सभ्यता को नया आयाम दिया था; जिन का इतिहास ही आर्य ब्राह्मणों ने नष्ट कर दिया। आर्यों के आक्रमण के बाद भी मौर्यों ने (शूद्रों ने) अपनी सत्ता कायम की थी। वे माली थे। शाक्य मालियों ने वैदिक व्यवस्था को ललकारा था। महामुनी शाक्य सिंह सिद्धार्थ गौतम ने सत्य की खोज करके अपने ज्ञान से दुनिया में हलचल मचा दी। महात्मा जोतीराव फुले ने आर्य ब्राह्मणों से अखंड संघर्ष छेड़कर उनकी व्यवस्था को हिला दिया था। माता सावित्रीबाई फुले, संत सावता माली, कामगार नेता नारायण मेघाजी लोखंडे ऐसे कई महान युगधरोंने माली समाज में जन्म लिया, जिन्होंने अपने भारत भूमिपर समता तथा मानवता की स्थापना के लिये कार्य किया। अपनी कृषि, श्रमण तथा शिवसंस्कृति का पुनः निर्माण करने की कोशीश की, लेकिन विषमतावादी ब्राह्मण लोगों को इस देश में समता और मानवता से नफरत होने के कारण हमारे महापुरुषों को बहिष्कृत करार देकर अपने ही लोगों से दूर कर दिया।

माली समाज भारत के हर कोने में रहता है। शिवसंस्कृति, बुद्ध संस्कृति का प्रभाव उनके खून में

ही होने से वो शांतीप्रिय समाज है। साथ ही श्रमण, कृषि-संस्कृति से उनका नाता होने से माली समाज मेहनती, प्रामाणिक और अपने से ज्यादा दूसरों की भलाई के बारे में सोचने वाला समाज है। माली समाज के लोग प्रगतिशील सोच विचार रखनेवाले हैं लेकिन उपद्रवी मतलब दूसरों को तकलीफ पहुंचाने वाले नहीं है। फिर सवाल आता है आज माली समाज सामाजिक जीवन विकास के क्रम में इतना पिछड़ा हुआ क्यों है? राजकीय क्षेत्र में वो आगे क्यों नहीं आ सका? पूरे भारत में बिखरा २० करोड़ संख्या में और करीबन प्रमुख माली नाम के १०५ जातियों में बंटा ये माली समाज आज राजनीति में बहिष्कृत क्यों हो गया? किसने किया? माली समाज का सामाजिक/राजकीय पतन का कारण हमें जानना जरूरी हो गया है।

पूरे भारत देश में आप निरीक्षण करेंगे तब आप देखेंगे माली समाज संख्या में ज्यादा होने के बावजूद राजकीय क्षेत्र में उपेक्षित और सबसे दूर रखा गया है। सभी बड़ी राष्ट्रीय तथा क्षेत्रिय पार्टियों ने उसे बहिष्कृत ही नहीं अस्पृश्य जैसा दूर किया है। आखिर इसका क्या कारण हो सकता है? इसका प्रमुख कारण है, देश की बहुतांश सारी पार्टियाँ विषमतावादी तथा व्यक्तिवादी सोच रखनेवाली है। जिसमें माली समाज मानवतावादी और सर्वसमावेशक सोच को माननेवाला है। दूसरा कारण शाक्यसिंह महामानव बुद्ध और क्रांतीवीर महात्मा जोतीराव फुले जैसे इतिहास पुरुष माली समाज के वंशज है। इसीलिये विषमतावादी, वंश वर्चस्ववादी ब्राह्मण लोगों को यह डर सताता है की, माली समाज अगर राजकीय क्षेत्र में आगे आता है तो वो अपने महापुरुषों के विचारधारा को भी लेकर आयेगा और अगर वे सत्ता में रहेंगे तो वंशवर्चस्व को नकारकर आगे विषमतावाद को भी खत्म कर देंगे। इसलिये कोई भी पार्टी माली समाज को स्वीकार ने को तैयार नहीं होती। केवल वही गिनी-चुने (दिखावे के लिए) माली नेताओं को वे अपने साथ में रखते है जो उनके

हिसाबसे और व्यक्तिगत लाभ के लिये राजनीति करने के लिय तैयार रहते है। आप देखेंगे भारत के सभी बड़ी राष्ट्रीय पार्टियों के मालिक ये आर्यवंशी ब्राह्मण लोग है; जो जाति, वर्ण, वंशवर्चस्व कायम रखने के लिये ही कार्यरत है।

दुनिया में जन्मे महापुरुष किसी जाति/वर्ग में बंधे नहीं रहते। वे सभी मानव की भलाई के लिये जीते और मरते है। उनके सामने सभी समाज, राष्ट्र तथा विश्व के कल्याण का लक्ष होता है। **लेकिन हमारे देश में ब्राह्मण एक ऐसी कौम है, जो अपने वर्ग के सामान्य नेता को सबका तथा देश का नेता कहलाता है, मरने के बाद उसे राष्ट्रपुरुष का दर्जा देकर झुठा इतिहास लिखकर प्रचारित करता है,** लेकिन हमारे किसी भी समाज में जन्मे महामानव को वो उसकी जाति में बंधित करके रखता है, इतनाही नहीं, उस महामानव के नाम से ही एक और अलग जाति बना के पेश करता है, ताकी दूसरे समाज के लोग उन्हें स्वीकार न करे। इतिहास में माली समाज के साथ यह अधिकतर दिखायी देता है, क्योंकि वे समता और मानवतावादी विचारधारा के महापुरुष थे। शिवमाली जम्बोमाली, भागिरथ माली, सावता माली, शाक्य, मौर्य यह नाम यही दर्शाते है।

आज भारत देश में ब्राह्मणों द्वारा महात्मा फुले, महामानव बुद्ध इनके विचार को रोकने के लिये ही माली समाज को राजकीय बली चढ़ाया जा रहा है। क्योंकि माली समाज केवल समाज के ही नहीं विचारों के भी वंशज है। माली समाज की अवस्था आज बरगद के पेड़ को गमले में लगाये जैसी बनायी है। उनकी राजकिय महत्वाकांक्षा को खत्म किया जा रहा है। प्राचीन इतिहास में पुरोगामी और प्रगतिशील जीवन जीनेवाले माली समाज को ब्राह्मण लोग फिर से देव, दैववादी बनकर, परंपरावादी बनाकर कर्मकांडों में फंसाकर रखना चाहते है; ताकि वे अपनी महापुरुषों के विचारों से प्रेरित होकर क्रांती नहीं कर सकेंगे।

उनकी इच्छाशक्ति को मार दिया जा रहा है, ताकि वे यथास्थिति रहकर अपने भाग्य को कोसते हुये, भगवान भरोसे जीते रहें। अतः अब माली समाज को अपने हक और अधिकार के बारे में सोचविचार करने का वक्त आ चुका है।

हमारे महापुरुषों ने हमें सचेत करके कहा है की, मांगने से केवल भीख ही मिलती है। दूसरों के दयापर जिंदा रखनेवाले ब्राह्मणवादी, विषमव्यवस्था को कायम रखनेवाले लोग आपके अधिकार कभी नहीं दे सकते। अपने अधिकार के लिये और आत्मसम्मान के लिये संघर्ष ही करना पडता है। अतः अब वक्त आ गया है, समस्त माली समाज के नेताओं ने अपनी छोटी सी चाहत के लिये, किसी विषमतावादी पार्टी चलाने वाले मालिक के गाड़ी का बैल बनकर, जिंदगीभर उसे ढोते रहने के बजाय अपने महापुरुषों का, अपने समाज का इतिहास याद करें, अपनी अंदर की इच्छाशक्ति को जगाये, और बडी महत्वाकांक्षा मन में पालें, केवल अपने और अपने समाज के बारे में ही नहीं, पूरे देश के समदुःखी, सम शोषित तथा सम विचारी लोगों को साथ में लेकर उनमें जागृती लाये। अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक राष्ट्रव्यापी और राष्ट्रीय लीडरशिप निर्माण करें केवल माली समाज का ही नहीं, सारे समाज का गाईड और गॉड फादर बने। अपने महापुरुषों के राहपर चलकर, भारत के संविधान के अनुसार फिर

से जनोन्मुख गणराज्य की स्थापना करने में जुट जाय। हमें याद रखना होगा बुद्धिमत्ता किसी जाति विशेष का एकाधिकार नहीं होता, और ना ही लोकशाही में ये देश किसी जाति/वर्ग विशेष या बुद्धिमत्ता का गर्व करनेवाले लोगों द्वारा चलाया जाता है। लोकशाही में देश तथा उसका शासन/प्रशासन सबकी भागिदारी से चलाया जाता है, और यही हमारे महापुरुषों का संदेश था।

सामाजिक इतिहासकारों ने कहा है, कोई भी समाज अपनी अस्मिता के आधार पर ही खडा होता है और उनकी अस्मिता का आधार होता है अपने पूर्वजों का इतिहास, संस्कृति तथा उसपर श्रद्धा, विश्वास और स्वाभिमान, कोई भी समाज अपनी आंतरिक शक्ति के बलपर ही अपना विकास कर सकता है और वह आंतरिक शक्ति समाज के संगठन में ही निहित होती है। और शत्रु केवल शक्ति कों ही घबराता है; ना की मात्र अच्छे विचारों को। अतः अपने महापुरुषों ने रचाये इतिहास से सबक लेकर अब माली समाज ने अपने सभी वंचित देशवासियों के लिये तथा देश के भलाई के लिए फिर से मानवतावादी मिशन चलाकर उस मिशन की नींव का पत्थर बनना चाहिये, तभी वे महात्मा फुले और महामानव बुद्ध के सच्चे अनुयायी और सच्चे वंशज कहला सकेंगे।